जैन भारती

मार्च, 2011 • वर्ष 59 • अंक 3 • वार्षिक रु. 200.00

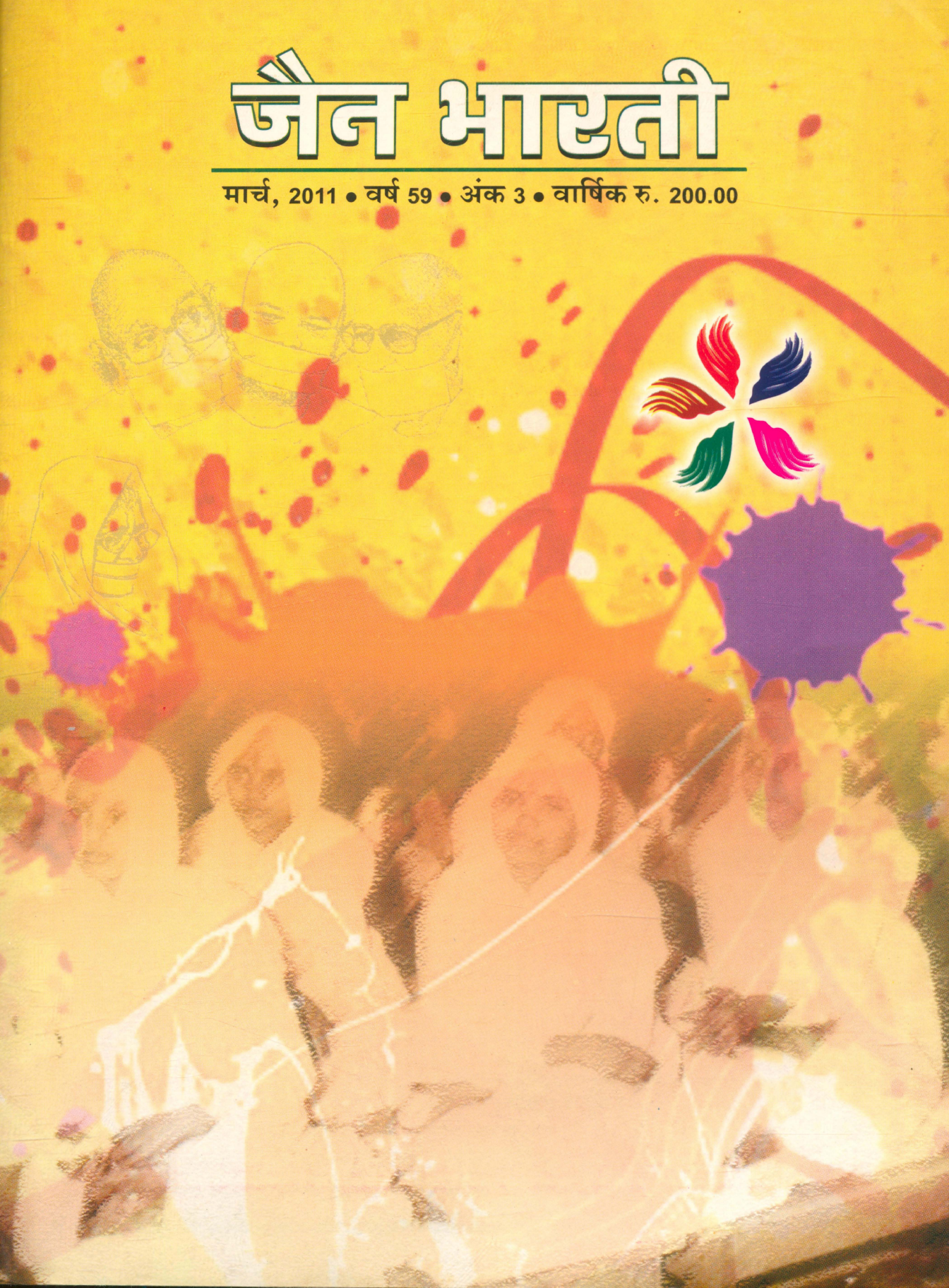

With best compliments from :

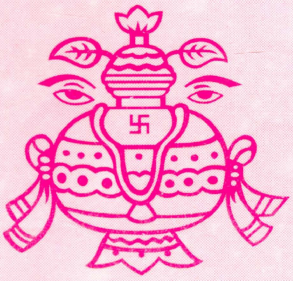

Nirmal Kumar Dudhoria
Nikhil Kumar Dudhoria

DUDHORIA BROTHERS

'Dugar Building', K.C. Road
Fancy Bazar, **Guwahati** 781001
Phone : 0361-2541424
Mob : 9864029571

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 59 • मार्च, 2011 • अंक 3

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
होली पर्व : लौकिक भी आध्यात्मिक भी

16
प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन
भारतीय दर्शन और जैन दार्शनिक

•

आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

25
प्रो. (डॉ.) रामजीसिंह
भारतीय नारी
शुक्ल और कृष्ण पक्ष

26
आचार्यश्री तुलसी
महिला : घर-समाज की धुरी

34
आचार्यश्री महाश्रमण
उपादेय है त्रिगुप्ति, वाणी-संयम और भाषालब्धि

37
समणी विपुलप्रज्ञा
सुख-दुख : स्वकृत; परकृत नहीं

41
कहानी
डॉ. आनंद यादव
नहान का त्यौहार

46
कविता
मुनि क्षमासागर की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
निष्कपट और बैरागी मन

शीलन

49
साध्वी निर्वाणश्री
सापेक्ष अर्थशास्त्र समाजोपयोगी अवधारणा

52
मुनि दुलहराज
शब्द परंपरा और मीमांसा एक दृष्टि

55
बालकथा
उमाशंकर त्रिपाठी 'बंधुजी'
झरने! झरते अमृत के

57
मां की सही सीख

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

केवल वर्तमान में मौन

कुछ कहते हैं—'सावद्य दान के विषय में भगवान ने मौन रखने को कहा है। इसलिए केवल वर्तमान काल में ही नहीं, सदैव मौन रखना चाहिए, पुण्य या पाप नहीं कहना चाहिए।'—उस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—'तीन जनों की ऐसी मान्यता थी—एक व्यक्ति सावद्य दान देने में पुण्य मानता था, दूसरा उसमें मिश्र धर्म मानता था और तीसरा उसमें पाप मानता था।' इन तीनों ने एक संकल्प किया—'यह संदेह मिट जाए, तो घर में रहने का त्याग है।'—अब इस संदेह को दूर करने के लिए वे राज्य-दरबार में तो नहीं जाएंगे। इसे दूर करने के लिए तो साधुओं के पास ही आएंगे। साधुओं को पूछने पर कहेंगे—'हमारे तो मौन है।'—फिर उनका संदेह कैसे मिटेगा? इस दृष्टि से मौन वर्तमान काल में (सावद्य दान देने के प्रसंग में ही) रखना चाहिए। सूत्रकृतांग (1/11, 2/5) के अर्थ में ऐसे प्रसंग में मौन रखने को कहा है और उपदेशकाल के संदर्भ में भगवती सूत्र (8/6) में भगवान ने गौतम से कहा—'तथारूप असंयती को सजीव, अजीव, शुद्ध, अशुद्ध, दान देने में एकांत पाप है।'—इस न्याय से उपदेश काल में 'जैसा फल होता है, वैसा' बताकर, उन्हें समझाकर (उनके संकल्पानुसार) दीक्षा दे देनी चाहिए।

सामायिक को धक्का देकर थोड़े ही 'पराते' (गिराते) हैं?

कुछ कहते हैं—'साधु सामायिक को 'पराते' नहीं, समाप्त नहीं कराते—तो उसे पूरा कराने का पाठ क्यों सिखलाते हैं?'

तब स्वामीजी बोले—'साधु सामायिक को 'पराते' नहीं, सो क्या उसे धक्का देकर थोड़ा ही गिराते (पराते) हैं? एक मुहूर्त के लिए सामायिक किया और एक मुहूर्त का काल पूरा होने पर सामायिक अपने आप पूरा हो गया। उसे जो 'पारता' (समाप्त करता) है, वह तो दोषों और अतिचारों की आलोचना करता है। वह आलोचना भगवान की आज्ञा में है। इसलिए 'पारने' का पाठ सिखलाते हैं, किंतु वर्तमान काल में उसे 'पराते' नहीं हैं। क्योंकि सामायिक पूरा करने पर वह उठ कर चला जाएगा। इस दृष्टि से उसे पूरा नहीं कराते, परंतु दोष की आलोचना कराने और उसका पाठ सिखाने में कोई आपत्ति नहीं है।' ●

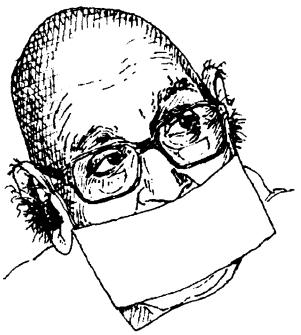

अनुभवी लोगों का चिंतन है कि कोई व्यक्ति यदि विकास करना चाहता है, तो इसके लिए पहली शर्त है कि वह सुने। पढ़ना उससे आगे की बात है। पहले व्यक्ति सुने और फिर पढ़े। क्योंकि बिना सुने किसी भी नई बात का हार्द समझ में नहीं आ सकता। इसलिए पूछने, पढ़ने, देखने और समझने से पहले सुनने का अपना मूल्य है। कुछ व्यक्ति सोचते हैं कि पुस्तकालय भरे पड़े हैं। जिस विषय का ज्ञान करना होगा, वैसी पुस्तक पढ़ लेंगे। यह बात जितनी सरल लगती है, उतनी ही जटिल भी है। कभी-कभी पांच पुस्तकें पढ़ लेने से जितनी जानकारी नहीं मिलती, एक घंटा प्रवचन सुनने से मिल जाती है। पुस्तकों का भार लादने या पुस्तकों के कीड़े बनने से जो रहस्य नहीं खुलते, वे गुरु की कृपा से ज्ञान पाने से खुल जाते हैं।

आजकल विद्यार्थी सुनते तो हैं, पर सुनने के लिए नहीं सुनते। सुनने के लिए जिस विशेष लक्ष्य और दृष्टि की अपेक्षा रहती है—वह नहीं हो तो केवल 'अंक' पाने के लिए सुनना उतना उपयोगी नहीं हो सकता। श्रवण की सार्थकता तभी है, जब उसके साथ श्रद्धा का योग हो। श्रद्धा-शून्य होकर सुनना 'सूना' हो जाने जैसा ही है और श्रद्धा-संवलित सुनना 'सोना' बन जाने जैसा है। श्रद्धा के साथ छोटे बच्चे की भी बात सुनी जाए, तो तत्त्व मिल सकता है। श्रद्धा के अभाव में भगवान की वाणी भी अकिंचित्कर हो जाती है।

श्रुति हो, श्रद्धा हो और प्रयोग न हो तो भी अधूरापन रहता है। शास्त्रों में बताया गया है कि—**सुई, सद्धा, संजमम्मि य वीरियं**—श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम है। श्रद्धा के साथ सुने हुए तत्त्व का जीवन में प्रयोग हो। इस तत्त्वत्रयी के युगपत संयोग से ही सफलता मिल सकती है, अन्यथा वायवीय उड़ान भरने से कोई परिणाम आने वाला नहीं है। जो कुछ सुना-समझा जाता है, उसमें प्रयोग की बात जुड़ जाए तो हर प्रयोक्ता अपने आप में घटित होने वाले रूपांतरण का अनुभव कर सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

हृदय-परिवर्तन के लिए शरीर-प्रेक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। हमारा शरीर बड़ा मूल्यवान है। इसमें इतने रहस्य भरे हैं कि कुशल शल्य-चिकित्सक भी उन रहस्यों को नहीं जान सकता, पर अध्यात्म के आचार्यों ने ये रहस्य खोजे हैं। जैसे श्वास बाएं नथुने से आता है, वैसे ही दाएं नथुने से भी आता है और दोनों नथुनों से भी आता है। क्यों आता है, और क्या परिणाम होते हैं? कोई 'डॉक्टर' नहीं बता सकता, पर इसके परिणाम निश्चित हैं। बाएं नथुने से आए तो शरीर में ठंडक व्याप्त हो जाती है और दाएं-श्वास में सुषुम्ना चले तो चित्त शांत हो जाता है, विकल्प शांत हो जाते हैं। क्यों होता है—ऐसा? कोई भी शल्य-चिकित्सक या 'फिजीशियन' इसकी व्याख्या नहीं कर सकता। अध्यात्म का मर्मज्ञ इसकी व्याख्या कर सकता है।

हमारे हृदय में प्राण का एक प्रवाह है। नासाग्र में प्राण का एक प्रवाह है, नाभि में भी प्राण का एक प्रवाह चलता है। गुदामूल में भी प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है और हमारी समूची त्वचा में भी प्राण का एक प्रवाह है। प्राण के कई प्रवाह हैं। कोई भी 'डॉक्टर' नहीं जानता कि ये प्राण-प्रवाह हैं या नहीं, या क्यों है? अभी यह विषय विज्ञान में है ही नहीं। ये सारी बातें खोजी गई हैं—साधना की दृष्टि से, 'अंतर की यात्रा' करने के लिए। सप्तधातुमय शरीर को जानने मात्र से भीतर की यात्रा नहीं हो सकती, भीतर के दरवाजे नहीं खुल सकते। भीतर के दरवाजों को खोलने के लिए, भीतर की यात्रा करने के लिए इन सारे रहस्यों को उद्घाटित करना परम आवश्यक है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

तीन नकारात्मक शब्द हैं—अनावेश, अनासक्ति और अनाग्रह। आदमी के लिए यह वांछनीय है कि वह हर परिस्थिति में अनावेश रहने का अभ्यास करे। किंतु, मैं देखता हूं कि आदमी को कभी-कभी इतना तेज आवेश आता है कि वह अपना आपा खो देता है। विवेक लुप्त हो जाता है और सामने कौन है, यह बात भी अर्थहीन हो जाती है। आदमी को इस दुर्बलता से बचना चाहिए। कठोर बात कहना कोई बुरी बात नहीं होती और अनुशासन की दृष्टि से कभी-कभी कड़ी बात कही भी जा सकती है, किंतु कठोर बात भी शांत मन से कहनी चाहिए। बात कहते समय भीतर में आवेश आ जाए तो मानना चाहिए कि जीवन की और कार्य-दक्षता की यह पहली विफलता है। धार्मिक जगत में तो अनावेश का बहुत महत्त्व है। व्यावहारिक जगत में भी अनावेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक परिवार में अनेक लोग साथ रहते हैं, यदि वे आवेशशील हों तो परिवार नरक बन जाएगा। आवेश न करना जीवन की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

इसी तरह अनासक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। व्यक्ति तो शरीरधारी है। अतः वह प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो सकता। जहां प्रवृत्ति होती है, वहां बंध भी होता ही है। इसीलिए कहा गया है कि आदमी अनासक्ति के साथ प्रवृत्ति करे। वह चलता है, बोलता है, परिवार में रहता है, व्यापार करता है। इन सबके साथ अनासक्ति को जोड़ दिया जाए—तो वह जीवन में भारी सफलता हासिल कर सकता है। आसक्ति जहां भी होती है—वह दुख का हेतु बनती है। अध्यात्म की दृष्टि से तो ज्यादा आसक्ति बाधक है ही, किंतु व्यवहार में भी यह अच्छी नहीं होती। इसलिए आदमी को आसक्ति से बचना चाहिए।

यही बात अनाग्रह के लिए है। जहां भी दुराग्रह है, वहां आदमी सत्य से दूर हो जाता है। जिसमें आग्रह नहीं होता, पर नम्रता होती है—वह सत्य के अधिक निकट होता है। अतः सामान्यतया व्यक्ति को आग्रह-मुक्त रहना चाहिए। किंतु, किसी-किसी बात का आग्रह हो भी सकता है—जैसे एक साधु का व्रत है कि वह जीवन-पर्यंत अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि का पालन करेगा। इसमें आग्रह होना ही चाहिए कि कुछ भी हो जाए—मैं अपनी साधना को नहीं छोड़ूंगा। इस प्रकार की नियम-निष्ठा अथवा आग्रह तो होना ही चाहिए। अन्यथा यदि आग्रह होता है, तो परिवार में, समाज में आनंद का रस सूखने लगता है और परिवार की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। आनंद का रस नहीं सूखे और परिवार में सामंजस्य बना रहे—इसलिए आदमी को व्यावहारिक बातों में लचीला होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदमी के जीवन में अनाग्रह का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वही जीवनशैली प्रशस्त हो सकती है—जो अनावेश से प्रभावित हो, अनासक्ति और अनाग्रह से युक्त हो।

—आचार्यश्री महाश्रमण

प्रसंग

निष्कपट और बैरागी मन

पिछले दिनों पढ़ते-पढ़ते एक मर्म की बात मिली कि अगर आपकी कोई प्रशंसा कर रहा हो तो आप अपने में वैराग्य भाव जागृत करें, क्योंकि प्रशंसा अहंकार लेकर आता है और यदि वैराग्य जगा हुआ है तो हम प्रशंसा को आसानी से पचा जाएंगे। यह भी पढ़ा कि प्रशंसा करते समय 'निष्कपट' रहें और सुनते हुए 'बैरागी'। सच तो यह है कि ये दोनों ही बातें बड़ी कठिन हैं, पर ऐसा यदि हो सके, तो हमारा जीवन काफी बेहतर हो सकता है। ये पंक्तियां लिख ही रहा था कि जनगणना से जुड़े एक सज्जन आ गए। मुझे बुलाया गया और उन कार्मिक से मुझे मिलना भी पड़ा। वे परिचित ही निकले और संयोग देखिए कि जनगणना के लिए पूछताछ से पहले प्रशंसा भरे शब्दों में वे कुछ बातें कहने लगे। इन पंक्तियों को लिखते हुए मैं अब उपर्युक्त कसौटी—'निष्कपट और बैरागी'—हो सकने की बात पर सोच रहा हूं और लगता है कि ऐसा हो पाना बड़ा ही कठिन है। फिर भी एक आकलन जरूरी है।

आप किसी के प्रति कितने 'निष्कपट' हैं और अपने में कितने 'बैरागी'—यह आकलन किसी अन्य के हाथों से न हो कर यदि अपने तईं ही हो, तो शायद सही आकलन हो सकेगा। अपना आकलन करते हुए तब हम निष्कपटपन और बैरागीपन की धारा से गुजर रहे होंगे और इन शब्दों के मर्म को भी तब ठीक से समझ रहे होंगे। हमें लगेगा कि ये महज शब्द भर ही नहीं हैं। ये ऐसे शब्द हैं, जो हमें अपने जीवन की 'नग्न सचाइयों' से रू-बरू कराते हैं।

पर, ऐसे कितने हैं, जो जीवन की ऐसी सचाइयों (नग्न सचाइयों) से रू-बरू होने को तैयार हैं? अब तो अकसर 'ठकुरसुहाती' ही कहा जाता है और ऐसा ही सुनना अच्छा लगता है और ऐसा करते हुए हमें थोड़ा अपनी हैसियत की भी फिक्र रहती है। यह भी मन में रहता ही है कि सुनने वाला बौखला न जाए। हम गौर भी हैसियत वाले के कहे पर ही करते हैं।

जैसे बराक ओबामा को ही लें। अमेरिका का यह राष्ट्रपति किसी परिचय का मुहताज नहीं है। तीन-चार माह (नवंबर 2010) हुए वे भारत आए थे और हमारी संसद (लोकसभा व राज्यसभा) के सदस्यों को संबोधित किया था। वे जो बोले, उसमें से कुछ वाक्य यहां उद्धृत कर रहा हूं—'.....हमारे साझे भविष्य के इस विश्वास की बुनियाद भारत के समृद्ध अतीत के प्रति मेरा सम्मान है। भारत ने न केवल हमारे दिमाग को खोला है, उसने नैतिक कल्पनाशीलता को भी विस्तार दिया है।.....' ओबामा साब आगे चल कर कहते हैं—'.....आप तमाम प्रतिकूलताओं पर काबू पाकर दुनिया के लिए आदर्श बन गए हैं.....।' आप यानी भारत (!)

अमेरिकी राष्ट्रपति का यह पूरा भाषण ऐसा था कि जैसे वह भारत का 'महिमा मंडन' करने के लिए ही हो। उस पूरे भाषण को आज अगर पढ़ें और इस बीच जो घटनाएं देश में हुई हैं, उनकी ओर गौर करें तो हमें एक नंगा आईना अपनी ही आंखों के सम्मुख घूमता नजर आएगा। वह हमारी वीभत्सता का दर्शन

करा रहा होगा और हम असहाय से नजर आ रहे होंगे। तब ओबामा साब द्वारा हमारे लिए (भारत के लिए) जिस 'नैतिक कल्पनाशीलता और तमाम प्रतिकूलताओं पर काबू पाकर दुनिया के लिए आदर्श' बन जाने की बात कह दी गई थी—उसका सत्य उजागर हो जाएगा। यह सत्य अलबत्ता 'निष्कपट और बैरागी' होने से ही उजागर हो सकता है। यह होना ही चाहिए।

बेशक बराक ओबामा साब के भाषण या उनका कोई भी कथन 'डिप्लोमैटिक' हो सकता है, पर हम अपने नित्य जीवन-व्यवहार में 'डिप्लोमैसि' लाएं—यह न उचित है, न आवश्यक। एक 'राजनयिक' के लिए तो ऐसा चाहे हो, पर आम जीवन में भला यह कैसे हो जाए? क्योंकि 'डिप्लोमैसि' का अर्थ कूटनीति भी तो है और 'कूट' को क्या निष्कपटता कहेंगे? कतई नहीं।

फिर यह कहना सर्वथा मुनासिब होगा कि 'निष्कपट और बैरागी' होने में एक साधना निहित है। बराक ओबामा साब जिस 'नैतिक कल्पनाशीलता' की बात कहते हैं—तो क्या यह मान लें कि वे निष्कपटता और बैरागीपन से निःसृत 'नैतिक कल्पनाशीलता' की आशा करते हैं? भारत से ऐसी आशा स्वाभाविक है, बल्कि भारत ही एक ऐसा देश है, जिससे यह आशा की जा सकती है। एक 'राजनय' के नाते ओबामा साब भी अगर ऐसी आशा भारत से पालते हैं तो यह गैरवाजिब नहीं है। पर, ऐसी आशा फलीभूत तभी हो सकती है जब वैश्विक स्तर पर कोई प्रतिबद्धता नजर आए। ओबामा साब ने भारत आकर जो आकांक्षा रखी है, अमेरिका को तो उस ओर अग्रसर होना ही चाहिए।

संचार क्रांति ने आज दुनिया के दायरों को काफी निकट ला दिया है। दुनिया छोटी हो गई है। गरज यह कि जो भी 'अच्छा-बुरा' होता है, वह सब कुछ क्षणों में ही सब ओर फैल जाता है। और, मानना चाहिए यह सब 'बेअसर' नहीं रहता है। अच्छाई का तो क्या कहें, बुराई तो शीघ्र प्रभाव छोड़ती है। जिस 'अपसंस्कृति' का रोना हम रोते हैं, भारत में उसके पांव ही नहीं पसरे, मजबूत भी हुए हैं। यह प्रमाण है कि बुराई का असर तेज वेग से होता है।

फिर भी भारत दुनिया के लिए आदर्श माना जाता है। क्यों? इसलिए कि सारी बुराइयों के बावजूद कुछ ऐसा है इस माटी में कि अपनी परंपरा और संस्कृति छुटाए नहीं छूटती है। इसीलिए आज भी निष्कपटता और बैरागीपन दिखता है, नजर आता है और इसकी बातें होती हैं। जो 'निष्कपट और बैरागी' हैं—उस ओर हर जन आकर्षित होता है, खिंचा चला जाता है।

क्योंकि धर्म और अध्यात्म इसकी जड़ों में है। सारी सांप्रदायिक बाड़ेबंदी और हदबंदियों के होते हुए भी इनसे मुक्त हो जाने की कुव्वत हमारे धर्म में अभी बची है। आज भी 'संप्रदाय' को छिलका और उसमें छिपे मूल सत्त्व को 'धर्म' माना जाता है। संप्रदाय और धर्म का ऐसा भेद 'चोली-दामन' का साथ रहते हुए भी कर लिया जाता है। धर्म अलग और संप्रदाय पृथक—जो मानते हैं, उनका कहा आदरपूर्वक सुना जाता है। वे पूज्यनीय भी कहलाते हैं। समर्थतम भी उन अकिंचनों के आगे झुकते हैं। यह भारत का ही आदर्श है।

और यह आदर्श अगर है तो सिर्फ इसलिए कि निष्कपटता और बैरागीपन अभी यहां अवशेष है, बचा है। जब तक यह बचा है, तब तक नैतिक कल्पनाशीलता की संभावना जीवित है। जो नैतिक जर्जरता पिछले कुछ महीनों में भारत की हुई है, उसकी भरपाई हो सकती है—यदि 'निष्कपट और बैरागी' मन की ओर आमुख हो लिया जाए। यह तभी संभव है जब 'धर्म और अध्यात्म' का क्षेत्र सामाजिक सरोकारों से आबद्ध हो। अणुव्रत आंदोलन इस दृष्टि से दिशा-सूचक सिद्ध हो सकता है। नैतिक-आध्यात्मिक सजगता के लिए छह दशक पहले आचार्यश्री तुलसी ने जब इसका सूत्रपात किया था—तब के हालात और आज की स्थितियों का मंथन करने की नए सिरे से जरूरत है। हमारे समाजशास्त्रियों तथा नैतिक उन्नायकों को मिल कर इसके लिए सक्रिय होना जरूरी है। बस।

—शुभू पटवा

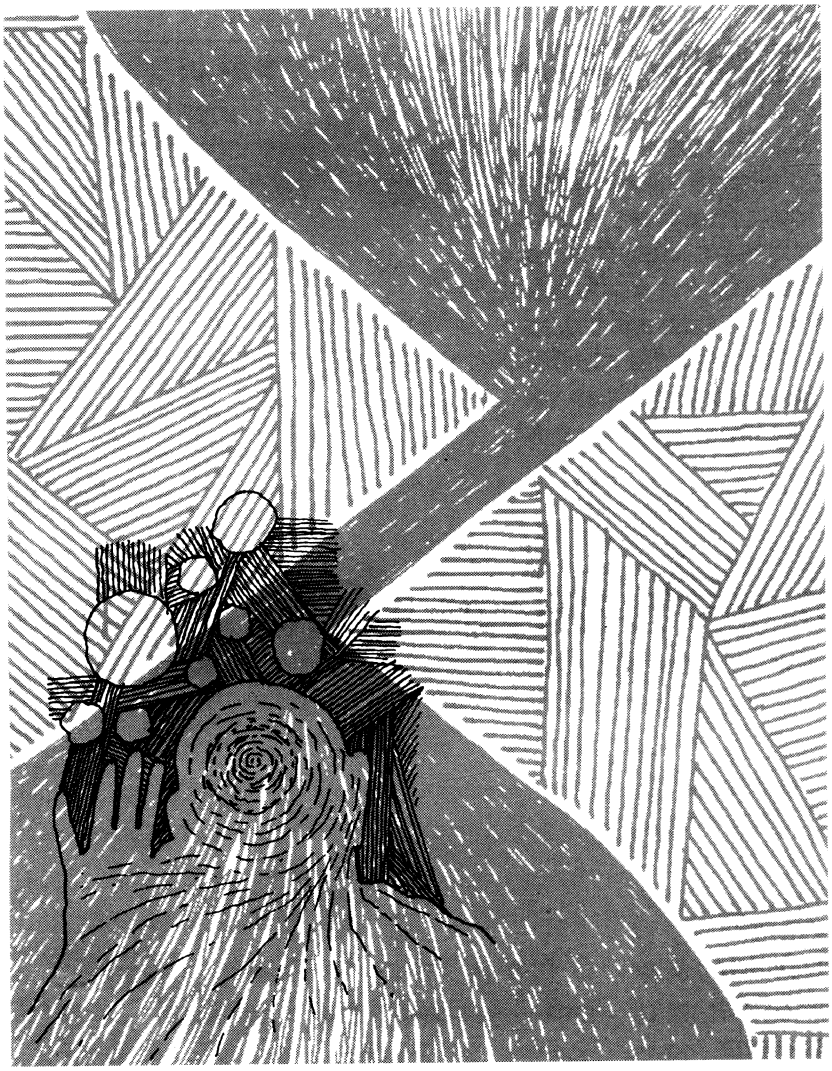

विमर्श

भारतीय द्रष्टाओं ने देखा है कि इस सृष्टि के मूल में आकाश और प्राण जैसे दो तत्त्व अनादिकाल से रहे हैं। आकाश स्थिर है और प्राण गतिमान। आकाश के स्थिर फलक पर प्राण की रेखाएं अंकित होती ही रहती हैं। एक आधारभूमि के ढंग से आकाश सदा एक जैसा रहता है, लेकिन प्राण के आंदोलन उसे विभाजित करते प्रतीत होते हैं। प्राण की सीमा मानो आकाश की सीमा बन जाती है। प्राण आकाश को अनेक खंडों में विच्छिन्न करता है, पर हमारे यहां भूः, भुवः और स्वः — लोक के अनुसंधान में तीन तरह से देखने में आता है। ये हैं—भूताकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश।

—मकरंद दवे

होलिका : 19 मार्च
□ अवसर विशेष □

होली के पर्व को हर्ष और आनंद का पर्व मानना चाहिए। होली का पर्व लौकिक दृष्टि से कुछ भी हो, इसका आध्यात्मिकीकरण भी करें। इसे अध्यात्म की दृष्टि से देखें, तो सचमुच यह दुखों को मिटाने का पर्व है। दुखों को मिटाने में रंग बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। इस दिन को प्रतीक मान कर हम 'लेश्याध्यान' का अपने जीवन में प्रयोग करना सीखें।
रंगों से एक दिन खेल लेंगे, कोई फायदा नहीं होगा। किंतु, रंगों को प्रतिदिन अपने ध्यान में लाएंगे—तो इससे जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन घटित होगा। हम वर्ष में एक ही बार रंगों से क्यों खेलते हैं? रंगों से रोज खेलें, बार-बार खेलें। रंगों के प्रयोग से जीवन में सदा शांति और खुशहाली रहेगी।

होली पर्व : लौकिक भी ; आध्यात्मिक भी

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

भारतीय परंपरा में अनेक उत्सव हैं। उनमें दो लौकिक उत्सव बहुत विख्यात हैं—होली और दीवाली। उत्सव लौकिक भी होते हैं और अलौकिक भी होते हैं। इन्हें धार्मिक या आध्यात्मिक रूप भी दिया जा सकता है। कोई भी उत्सव हो, उसका कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है और उनमें धीरे-धीरे बदलाव भी आता रहता है, बहुत-सी बातें उनके साथ जुड़ती जाती हैं।

लौकिक जगत में कुछ उत्सवों का ऐसा विधान किया गया कि जो राग को प्रदर्शित कर अतीत में हुए तनावों को दूर करने में सहायक बनते हैं। नाट्य-रंगमंच और गीत-संगीत तनाव को मिटाने के अच्छे साधन हैं। इसी तरह ध्यान भी एक साधन है। जो ध्यान करना जानता है, उसके लिए न संगीत की जरूरत है, न राग की जरूरत है, न किसी अन्य कला की जरूरत है।

लौकिक उत्सवों में होली एक प्रमुख उत्सव है। वर्ष भर के तनावों को भुलाने, मिटाने का यह सबसे अच्छा दिन है। इस दिन आदमी अपनी सारी कठिनाइयां, परेशानियां, दैन्यता, निराशा, हताशा—सबको एक किनारे कर के हर्ष और उल्लास में खो जाता है। यह मस्ती का उत्सव है, पर जब गृहस्थ जीवन की वास्तविकता उसे यथार्थ के धरातल पर खड़ा करती है तो उसकी सारी हंसी-खुशी काफूर हो जाती है।

मनुष्य की यह सहज-स्वाभाविक प्रकृति है कि वह दुख से हमेशा दूर रहना चाहता है। पर, कैसे रहे? यह नहीं जानता। दो तरह के उपाय इस दुनिया में चलते हैं—अल्पकालिक और दीर्घकालिक। अल्पकालिक उपाय यह है कि सारी चिंताओं से कुछ देर के लिए मुक्त होकर ऐसी दुनिया में प्रवेश कर लें, जहां स्वर्गिक आनंद की अनुभूति हो। कुछ लोग इस उपाय के अंतर्गत मादक द्रव्यों की शरण लेते हैं, क्लबों या थिएटरों में चले जाते हैं। ऐसा नहीं कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण चिंतामुक्त

और तनावमुक्त हो जाए, सबकी कुछ न कुछ कठिनाइयां और दिक्कतें होती ही हैं। गृहस्थ जीवन में—चाहे वह गरीब हो या छोटा आदमी हो, चाहे करोड़पति और बड़ा आदमी हो—कुछ न कुछ कठिनाइयां सबके सामने रहती हैं, किंतु हंसी-खुशी और मस्ती के माहौल में आदमी के चेहरे से कुछ देर के लिए तनाव गायब हो जाता है और ये ही लोग जब जीवन के यथार्थ से रू-बरू होते हैं, तो घर की परेशानियों से उनको सामना करना पड़ता है और पहले की तरह फिर इन चेहरों पर उदासी लौट आती है।

हमें अल्पकालिक सुख और दीर्घकालिक सुख, दोनों पर विचार करना चाहिए और दीर्घकालिक सुख की दिशा में प्रस्थान करना चाहिए। एक-दो दिन के उत्सव से अल्पकालिक तृप्ति होती है, पर कोशिश इस बात की हो कि वह स्थाई रूप से हमारे पास रहे।

होली का उत्सव एक सचाई की ओर ले जाने वाला उत्सव है। रंगों से खेलना एक सचाई है। रंगों से खेलने के पीछे एक बड़ा दर्शन रहा है और हमें इसे समझना चाहिए। रंग एक सिद्धांत है। इसे जैन परिभाषा में 'लेश्या' कहा गया है। योग और 'ऑकल्ट साइंस' में उसे 'ओरा' या 'आभामंडल' कहा गया है।

हर व्यक्ति का अपना आभामंडल होता है। मनुष्य का आभामंडल उसे आध्यात्मिक दिशा में ले जाने वाला हो सकता है और उससे विपरीत दिशा में भी ले जाने वाला हो सकता है। यह शरीर जो दृश्यमान है, उसकी सारी स्थितियों को बताने वाला सबसे बड़ा 'एक्स-रे' कोई है—तो वह आभामंडल है। 'एक्स-रे' से भीतर का सारा 'फोटो' आ जाता है, किंतु उसमें वही चित्र आता है जो मशीन के सामने 'फोकस' किया गया है। आभामंडल में पूरे शरीर की 'स्क्रीनिंग' सामने आ जाती है। पता लग जाता है कि आदमी के भीतर क्या है और बाहर क्या है। स्थूल में क्या है और सूक्ष्म में क्या है। आजकल आभामंडल का सिद्धांत बहुत व्यापक बन गया है।

आभामंडल रंगों का एक मिश्रण है। हर व्यक्ति के पास रंग होता है। एक आदमी शिकायत करता है कि नींद नहीं आती, अनिद्रा का रोग है। डॉक्टर उसे दवा के रूप में नींद की गोली देगा। किंतु, आभामंडल के बारे में जानकारी रखने वाला उसे गोली या 'इंजेक्शन' नहीं देगा। वह उसे बताएगा कि तुम्हारे शरीर में लाल रंग का संतुलन नहीं है, इसलिए तुम अनिद्रा की बीमारी से ग्रस्त हो गए हो। चाहे शारीरिक बीमारी हो, चाहे मानसिक और भावात्मक बीमारी हो—इन सारी बीमारियों को आभामंडल के द्वारा जाना जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान में भी हम रंगों का प्रयोग कराते हैं, जिससे रंगों का संतुलन बन सके और आदमी 'उत्सव' के आनंद में जी सके। इस संतुलन को हम चरित्र के साथ देखें, भावों के साथ देखें। एक युवक बहुत क्रूर है। एक वृद्ध आदमी भी बड़ा क्रूर और नृशंस है। कारण क्या है? आभामंडल के परिप्रेक्ष्य में इस के कारणों की मीमांसा करें तो पता चलेगा कि उसमें 'कृष्ण लेश्या' का अनुपात अधिक है। काला रंग उसमें ज्यादा है। इसलिए उसकी प्रवृत्ति में क्रूरता आ गई और वह अकरणीय कार्य कर रहा है। जब यह रंग हावी होता है, तो बुद्धि-विवेक सब तिरोहित हो जाते हैं।

रंग दो तरह के होते हैं—'डार्क' और 'ब्राइट'। जब यह 'डार्क' या काला आभामंडल आता है तो आदमी क्रूर बन जाता है, मानवीय गुणों को खो देता है। कुछ लोगों में ईर्ष्या की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा होती है। ऐसे लोग किसी का उत्कर्ष और प्रगति फूटी आंख भी नहीं देख सकते। ऐसे लोगों में 'डार्क' नीला रंग प्रबल होता है। वह आदमी में ईर्ष्या की भावना को प्रबल बनाता है। ईर्ष्या के वशीभूत आदमी अपने भले-बुरे की बात भी भूल जाता है।

हम भावों को रंगों के आधार पर और रंगों को भावों के आधार पर पहचान सकते हैं। शरीर के आभामंडल में कौन-सा रंग ज्यादा मात्रा में होगा, तो आदमी का व्यवहार किस तरह का होगा? लेश्याएं आदमी के व्यवहार को बदल देती हैं। कभी-कभी इनकी सक्रियता के कारण अच्छे आदमी का व्यवहार भी बहुत बुरा हो जाता है। इसी तरह कभी-कभी बुरा आदमी भी अच्छा व्यवहार करता हुआ देखा जा सकता है। रंगों की अल्पता या बहुलता मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन का बहुत बड़ा कारण बनती है। एक आदमी धार्मिक वृत्ति का है। **'पियधम्मे दढधम्मे'**—वह धर्म में दृढ़ है। इसका कारण स्पष्ट है कि उस आदमी में पीले रंग का प्रभाव प्रबल है। जिसका आभामंडल पीले

रंग से प्रभावित होता है, उसमें 'पद्म लेश्या' की प्रधानता है। उसे धर्म में विशेष रुचि होगी।

कोई आदमी बेहद चंचल है, पर अचानक उसके स्वभाव में स्थिरता और गंभीरता दिखाई देने लगती है, तो समझें कि उसमें 'तैजस' रंग के परमाणु या 'तैजस लेश्या' ज्यादा काम कर रही है। इसी तरह जिस व्यक्ति में वीतरागता है, कषाय उपशांत है तो समझ लेना चाहिए कि उस व्यक्ति में 'सफेद' रंग अपना प्रभाव दिखा रहा है।

इस तरह रंगों के आधार पर मनुष्य का स्वभाव निर्धारित होता है और रंगों की अल्पता या बहुलता के आधार पर उसके स्वभाव में अंतर आता रहता है। इसलिए एक समझदार व्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि वह रंगों की मीमांसा करता रहे। जब देखे कि मेरे सामने इस तरह की समस्याएं बार-बार आ रही हैं, तो उसे विचार करना चाहिए कि जरूर 'लेश्या' संबंधी कोई परिवर्तन हुआ है। ललाट पर सफेद रंग का ध्यान क्रोध, अहंकार आदि का शमन करता है। हमारे सामने एक बार एक विद्वान ने अपनी बात रखी कि—यह बात ठीक है कि प्रेक्षाध्यान से क्रोध शांत होता है, आवेश शांत होता है। आप ऐसे प्रयोग कराएं, जिससे लोभ शांत हो जाए। यह सबसे मुख्य बात है। लोभ शांत होने पर बहुत सारी बुराइयां स्वतः मिट्ट जाएंगी। अनेक दुर्गुणों का जनक लोभ है। आज की सारी छीना-झपटी, दौड़-भाग, घपले-घोटाले इसी लोभवृत्ति के कारण हो रहे हैं। हत्या जैसे अमानुषिक-कर्म भी अधिकांश इसी कारण होते हैं।

रंगों का विज्ञान बहुत बड़ा है। इसी के आधार पर 'कलर-थेरेपी' का आविष्कार हुआ है। रंगों की 'मैचिंग' किस तरह की स्थितियों का निर्माण करती है, यह बहुत विस्तार से जानने की बात है। एक आदमी ने अपने नए मकान को 'कलर' करवाया। रंगों के बारे में उसे कोई जानकारी नहीं थी। इसलिए उसने इस पर ध्यान भी नहीं दिया। रहने और सोने के कमरों में गहरे लाल रंग की पुताई करवा दी। परिणाम यह हुआ कि घर में निरंतर 'महाभारत' शुरू हो गया।

कपड़ों के बारे में भी रंग-विज्ञान अपना काम करता है। आदमी की आदत में रंगविशेष के कपड़े बहुत बड़ा बदलाव ला देते हैं। गहरे लाल रंग के कपड़े व्यक्ति को गुस्से की दिशा में अग्रसर कर देंगे। नीले रंग के कपड़ों से आपकी प्रवृत्ति में ईर्ष्या का समावेश शुरू हो जाएगा। नीलांबर और पीतांबर धारण करने के पीछे कोई न कोई अर्थ रहा है। जिसकी बुद्धि मंद है, वह पीले रंग को बार-बार देखे तो बुद्धि में तीव्रता आनी शुरू हो जाएगी, स्मृति भी अच्छी हो जाएगी। हर्ष, शोक, चिंता, आलस्य, भय—इन सब पर रंगों का बड़ा प्रभाव होता है। रंगों के इस विज्ञान का अच्छी तरह अध्ययन कर के आदमी अपने स्वभाव, अपनी प्रवृत्तियों और आदतों में परिवर्तन ला सकता है। ये रंग 'पोजिटिव' और 'नेगेटिव', दोनों तरह का प्रभाव डालते हैं।

हमें इसी संदर्भ में पर्वों के साथ जुड़े रंगों पर विचार करना चाहिए। क्या रंगों के दर्शन मात्र से ऐसा हो सकता है? हां, हो सकता है। किंतु, स्थाई प्रभाव चाहते हैं तो लंबे समय तक रंगों पर ध्यान करना होगा, एक तरह की घुटाई करनी होगी। उत्तेजना के रंगों और उपशम या शामक रंगों पर हमने तरह-तरह के प्रयोग किए और उनका प्रभाव भी देखा। रंगों के प्रयोग को हमने शारीरिक, मानसिक और भावात्मक दृष्टि से भी देखा और उनका परीक्षण किया। प्रारंभ में प्रेक्षाध्यान शिविर के साथ रंग-चिकित्सा के प्रयोग भी करवाए गए। रंग-बिरंगी बोतलों के पानी का बड़ा उपयोग होता था। रंगों के बारे में एक-दो बार जानने से नहीं होगा। इससे कोई बहुत लाभ नहीं होगा। मुख्य बात है—प्रयोग और ध्यान की। रंग कोई 'इस्तेमाल' की चीज नहीं, 'ध्यान' की चीज है।

अनुप्रेक्षा के सिद्धांत में रंगों की अनुप्रेक्षा करते हैं। आदमी चिंताग्रस्त है, डर लग रहा है, भयाक्रांत है—ऐसी स्थिति में चमकता हुआ मोरपंख जैसा 'नीला रंग' बहुत लाभदायी होगा। शामक दवा से भी अधिक इस प्रयोग का प्रभाव होगा। एक बार आप सारी चिंता और भय से मुक्त हो जाएंगे। इसके लिए निरंतर अभ्यास या घुटाई करनी होगी। यह बात निम्नोक्त घटना से समझ सकते हैं।

एक राजा ने नई चित्रशाला के निर्माण का निश्चय किया। राज्य में घोषणा करवाई गई कि सभी श्रेष्ठ चित्रकार एक दिन राजमहल के परिसर में उपस्थित हों। चित्रशाला के निर्माण के लिए सर्वाधिक योग्य और सर्वश्रेष्ठ चित्रकार का चुनाव होगा और सर्वश्रेष्ठ को राजा

द्वारा बहुत बड़ी धनराशि प्रदान की जाएगी, प्रशंसित किया जाएगा। निश्चित दिन राज्य के प्रमुख चित्रकार उपस्थित हुए। साक्षात्कार हुए, तरह-तरह की कसौटियां की गईं और दो चित्रकार चयनित हुए। उन्हें चित्रशाला के निर्माण का काम सौंपा गया। उत्तराध्ययन सूत्र के व्याख्याकारों ने इसे बहुत अच्छी तरह से समझाया है।

दोनों चित्रकारों ने अपना कार्य शुरू कर दिया। जहां उन्हें चित्र बनाना था, उस भाग में यवनिका या पर्दा डाल दिया गया, ताकि दोनों चित्रकार एक-दूसरे के काम को देख न सकें। छह महीने तक बड़ी निष्ठा के साथ दोनों ने अपना काम किया। निश्चित समय पर अपना काम पूरा कर वे राजा के समक्ष उपस्थित हुए और कार्यसंपन्न होने की सूचना दी।

राजा ने अपने मंत्री के साथ चित्रशाला का निरीक्षण किया। राज्य के और भी कई मुख्य अधिकारी साथ थे। चित्रशाला में प्रवेश कर राजा पहले चित्रकार के कक्ष में गए तो देखा कि दीवारों पर उकेरे गए भित्ति-चित्र सर्वथा सजीव प्रतीत हो रहे हैं। राजा ने उस चित्रकार की बड़ी प्रशंसा की।

उसके बाद राजा दूसरे चित्रकार के कक्ष में गए। देखा कि वह कक्ष एकदम चित्रविहीन है। उसमें एक भी चित्र नहीं है। राजा ने प्रश्नवाचक की दृष्टि उस चित्रकार पर डाली। बोला—'छह महीने के समय का यह उपयोग है? तुम्हें तो आदेश की अवहेलना और अवमानना का दंड मिलना चाहिए।'

—'महाराज! दंड देने का आपको अधिकार है। उसे सहर्ष भुगतने को भी मैं तैयार हूं, किंतु एक प्रार्थना है।'—दूसरे चित्रकार ने कहा।

—'क्या?' राजा का प्रतिप्रश्न था।

—'आप कृपा कर बीच की इस यवनिका को हटवा दें।'—चित्रकार का उत्तर था।

राजा ने ऐसा करने का आदेश दिया। बीच के पर्दे हटवा दिए गए। यवनिका के हटते ही वह खाली और सूना कक्ष जैसे चित्रों से जगमगा उठा। राजा को लगा कि आंखों को कोई धोखा या भ्रम हुआ है। एक क्षण पहले यह कक्ष चित्रों से खाली था और अब संपूर्ण कक्ष चित्रों से भरा हुआ है। दीवार का एक भी कोना खाली नहीं है। अद्‌भुत रस की सृष्टि हो गई। यह कैसे?

राजा ने अपनी प्रश्नवाचक दृष्टि फिर उस चित्रकार पर डाली। चित्रकार ने कहा—'क्षमा करें महाराज! यह सच है कि मैंने कोई चित्र नहीं बनाया।'

—'फिर ये सुंदर चित्र कैसे और कहां से आ गए?'—राजा का प्रश्न था।

—'मैंने सिर्फ घुटाई की है। छह महीने तक घुटाई कर इन दीवारों को इतना चिकना बना दिया कि पार्श्व में कोई भी चित्र आए, दीवार पर उसका प्रतिबिंब निश्चित आएगा। चित्र मेरे बनाए नहीं हैं, ये चित्र के प्रतिबिंब भर हैं।'—चित्रकार का स्पष्टीकरण था।

चित्रकार की कला पर तब राजा मुग्ध हो गया। पहली बार एक नई कल्पना का साक्षात्कार हुआ था। राजा ने एक बड़ा उत्सव किया और प्रचुर धन-संपदा चित्रकार को प्रदान की, सम्मान किया।

हमारे लिए यह चिंतन की बात है कि क्या हम ऐसी ही घुटाई करते हैं, या नहीं करते? आयुर्वेद में कहते हैं कि चौंसठ प्रहर तक घुटाई करने से पीपल की शक्ति बढ़ जाती है। पाचन-क्रिया कमजोर होने पर वैद्य 'चौंसठ प्रहरी पीपल' देते हैं, जो अग्नि को तेज कर देती है। पीपल को ऐसे भी चबाया जा सकता है, किंतु वह लाभ नहीं मिलेगा, जो चौंसठ प्रहर तक घुटाई हुई पीपल का होगा। आयुर्वेद में तरह-तरह की दवाइयों की घुटाई की परंपरा है। सौ पुटी अभ्रक से हजार पुटी अभ्रक की शक्ति ज्यादा होती है, उसका मूल्य भी ज्यादा होता है। लक्षपुटी का भी विधान है। यही बात अध्यात्म में 'भावना' के नाम से जानी जाती है। आयुर्वेद में इसे 'घुटाई' कहते हैं। भावना भी घुटाई ही है। अगर क्रोध को शांत करना है, तो सफेद या पीले रंग की भावना करें, क्रोध शांत हो जाएगा। अपवादस्वरूप भी कोई ऐसा मामला नहीं आया कि जिसने अभ्यास किया और क्रोध शांत नहीं हुआ। मात्रा में थोड़ा-बहुत अंतर हो सकता है, किंतु इसके परिणाम सकारात्मक रहे हैं।

अतः होली के पर्व को हर्ष और आनंद का पर्व मानना चाहिए। होली का पर्व लौकिक दृष्टि से कुछ भी हो, इसका आध्यात्मिकीकरण भी करें। इसे अध्यात्म की

दृष्टि से देखें, तो सचमुच यह दुखों को मिटाने का पर्व है। दुखों को मिटाने में रंग बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। इस दिन को प्रतीक मान कर हम 'लेश्याध्यान' का अपने जीवन में प्रयोग करना सीखें।

रंगों से एक दिन खेल लेंगे, कोई फायदा नहीं होगा। किंतु, रंगों को प्रतिदिन अपने ध्यान में लाएंगे—तो इससे जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन घटित होगा। हम वर्ष में एक ही बार रंगों से क्यों खेलते हैं? रंगों से रोज खेलें, बार-बार खेलें। रंगों के प्रयोग से जीवन में सदा शांति और खुशहाली रहेगी।

चित्तसमाधि के लिए हम संकल्प लें कि कभी दुखी नहीं बनेंगे। शोक में, संताप में, तनाव में नहीं जाएंगे। हमारी प्रसन्नता अखंड रहे। 'लेश्याध्यान' का सिद्धांत भगवान महावीर से मिला है और इसका प्रयोग अनेक आचार्यों और योगवेत्ताओं ने किया है। हम भी कर रहे हैं। अगर यह प्रयोग निरंतर किया जाए तो सुख की चाबी आपके हाथ में होगी। सुख की यह चाबी हमारे हाथ में रहे। आत्मकर्तृत्व को समझने और उस पर भरोसा करने का प्रयत्न करें। अगर ऐसा होता है तो होली का आध्यात्मिक रूप आपकी समझ में आ जाएगा। ❖

फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	गंगाशहर, बीकानेर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	दीपचंद सांखला
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003
4.	प्रकाशक का नाम	:	भंवरलाल सिंघी
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा शाखा कार्यालय : तेरापंथ भवन गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान
5.	संपादक का नाम	:	शुभू पटवा
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	भीनासर, बीकानेर
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते, जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्र के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	:	जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1

मैं, भंवरलाल सिंघी एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

भंवरलाल सिंघी
प्रकाशक के हस्ताक्षर

संदर्भ : आचार्य हरिभद्र

वस्तुतः 2500-2600 वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन दर्शन की अनेकांत दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है, जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जाएं, किंतु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान कृतियों का प्रणयन किया हो।

भारतीय दर्शन और जैन दार्शनिक

प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन

भारतीय दर्शन में जैन दार्शनिकों का त्रिविध महत्त्व है। यह त्रिविध इस दृष्टि से है कि प्रथमतः उन्होंने अन्य दर्शनों की एकांतवादी मान्यताओं की निष्पक्ष समीक्षा की और एकांतवादिता के दोषों को स्पष्ट किया। जैन दार्शनिक कभी भी आलोचक न होकर समालोचक या समीक्षक ही रहे। उन्होंने परस्पर विरोधी दार्शनिक मतवादों के मध्य अपनी अनेकांतवादी दृष्टि से समन्वय किया। तीसरे उन्होंने निष्पक्ष होकर दर्शनसंग्राहक ग्रंथों की रचना भी की।

दार्शनिक एवं धार्मिक परंपराएं

भारतीय दर्शनों में एकांतवादिता का जो दोष आ गया था, जैन दार्शनिकों ने उसके निराकरण का प्रयत्न किया। जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों की जिन मान्यताओं की समीक्षा की वह उनकी एकांतवादिता की समीक्षा थी, न कि उनके सिद्धांतों का समग्रतया निराकरण। उदाहरणार्थ जैनों ने बौद्धों के जिस 'क्षणिकवाद' की समीक्षा की, वह उनके एकांत परिवर्तनशीलता के सिद्धांत की समीक्षा थी। जैन दर्शन ने वस्तु या सत्ता के स्वरूप में उत्पाद और व्यय को स्वीकार करके वस्तु की परिवर्तनशीलता तो स्वयं ही स्वीकार की थी। इसी प्रकार जब वे सांख्य के कूटस्थनित्य आत्मवाद या वेदांत के 'सत् की अपरिवर्तनशीलता' के सिद्धांत की समीक्षा करते हैं, तो उनका आशय सत्ता की ध्रौव्यता का पूर्ण निराकरण नहीं है, बल्कि वे स्वयं भी उत्पाद-व्यय के साथ सत्ता की ध्रौव्यता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों के द्वारा उनकी जो आलोचना प्रतीत होती है—वह आलोचना नहीं, मात्र समीक्षा है। वस्तुतः वे उन सिद्धांतों में रहे हुए एकांतवादिता के दोषों के निराकरण का प्रयास करते हैं। उनकी भूमिका एक आलोचक की भूमिका नहीं, शल्य क्रिया की सी भूमिका है। जैसे एक चिकित्सक रोगी की बीमारी का निराकरण करता है, न कि उसके अस्तित्व

को नकारता है। वह तो उसे स्वस्थ बनाना चाहता है। इसी प्रकार जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के एकांतवादिता के दोष का निराकरण चाहते हैं, न कि उन सिद्धांतों का समग्रतया खंडन करते हैं। अतः उनकी अन्य दर्शनों की समीक्षा को इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा जैन दर्शन में आगम-युग से प्रारंभ होकर सत्रहवीं शती के उपाध्याय यशोविजय के ग्रंथों तक निरंतर चलती रही, पर जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के प्रति अपनी समालोचना में कभी आक्रामक नहीं हुए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशार नयचक्र (चौथी-पांचवीं शती) में मिलता है, जिसमें उन्होंने अन्य दर्शनों की विधि-विधि, विधि, विधि-निषेध आदि रूपों में समीक्षा की। किंतु, वे किसी दर्शन या दार्शनिक विशेष का नाम लिए बिना, मात्र सिद्धांत की समीक्षा करते हैं। उन्होंने प्रतिपक्षी या समन्वयक जैन दर्शन का भी नाम लिए बिना मात्र उनकी समीक्षा की है।

जैन परंपरा में अन्य परंपराओं के विचारकों के दर्शनों एवं धर्मोपदेशों के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (*'इसिभासियाइं'*—लगभग ई. पू. तीसरी शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं के प्रवर्तकों—यथा नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को 'अर्हत् ऋषि' कहकर संबोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परंपराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीनकाल का अन्यतम उदाहरण है। अन्य परंपराओं के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परंपरा के प्राचीन साहित्य में हमें कम ही उपलब्ध होते हैं। स्वयं जैन परंपरा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणामस्वरूप यह महान ग्रंथ, जो कभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहां से अलग कर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम ग्रंथों में तत्कालीन अन्य परंपराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किंतु उनमें अन्य दर्शनों और परंपराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है, किंतु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में विशेष रूप से मंखलि-गोशालक के प्रसंग में तो जैन परंपरा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को 'अर्हत् ऋषि' के रूप में संबोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहां यह चर्चा केवल इसलिए की जा रही है कि हम परवर्ती जैन दार्शनिक हरिभद्र यशोविजय आदि की उदार दृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परंपरा में, अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान है।

अन्य दर्शनों की एकांतवादिता की समीक्षा की दिशा में किए गए प्रयत्नों में प्रथम नाम सिद्धसेन दिवाकर का आता है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'सन्मतितर्क' में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि किस दर्शन का कौन-सा सिद्धांत किस 'नय' अर्थात् दृष्टिकोण के आधार पर सत्य है। उन्होंने जैन दर्शन के 'नयवाद' की अपेक्षा से अन्य दर्शनों के सिद्धांतों की सापेक्षिक सत्यता का दर्शन कराया। उनकी इस दृष्टि का कुछ प्रभाव समंतभद्र की 'आप्त-मीमांसा' पर भी देखा जाता है। उन्होंने यह बताया कि वेदांत (औपनिषदिक वेघंत) संग्रहनय से बौद्ध दर्शन का क्षणिकता का सिद्धांत ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनों के सिद्धांत व्यवहारनय की अपेक्षा से सत्य प्रतीत होते हैं। यही दृष्टि आगे चलकर समत्वयोगी आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में भी विकसित हुई। जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पंद्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किंतु सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी, उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद

नहीं हैं। साथ ही पंडित सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है, वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर समंतभद्र, जिनभद्रगणि आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकांत दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है। फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन एकांतिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं, जबकि जैन दर्शन अनेकांत दृष्टि अपनाने के कारण सम्यक्दर्शन है। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊंचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है, वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचंद्र, यशोविजय, आनंदघन आदि—अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति—समभाव और उदारता का परिचय देते हैं। उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचंद्र अपने महादेव-स्तोत्र (44) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

भव बीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

यह श्लोक हरिभद्र के लोकतत्त्वनिर्णय में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। यथा—

यस्य अनिखिलाश्च दोषा न संति, सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

वस्तुतः 2500-2600 वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन दर्शन की अनेकांत दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है, जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जाएं, किंतु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परंपराओ का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है—एक तो उन परंपराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट—ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रंथकर्ता का मुख्य लक्ष्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परंपराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय भी नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रांतरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रंथ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अंधविश्वासों का सचोट खंडन भी करते हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों के भ्रांतरूप में प्रस्तुत करते हैं और न उसके संबंध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं। हरिभद्र ने अपने ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय में कपिल को महामुनि और भगवान बुद्ध को महाचिकित्सक कहा है। हरिभद्र के 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में इस दृष्टिकोण का एक निर्मल विकास परिलक्षित होता है। अपने ग्रंथ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारंभ में ही ग्रंथ रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।
जायते द्वेष शमनः स्वर्गसिद्धि सुखावहः।।

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रंथ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं—*(कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः—शास्त्रवार्तासमुच्चय 237)*। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं *(यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यत्*—वही 465, 466)। यहां हम देखते हैं कि जहां एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं—न्याय

दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं—वहीं दूसरी ओर हरिभद्र जैसे जैन दार्शनिक अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किंतु संपूर्ण ग्रंथ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहां हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इसी प्रकार हरिभद्र ने अन्य परंपराओं की समालोचना में भी जिस शिष्टता और आदर-भाव का परिचय दिया, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परंपरा में उपलब्ध नहीं होता है।

यद्यपि आचार्य हेमचंद्र ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' (प्रचलित नाम स्याद्वाद-मंजरी) में अन्य दर्शनों की व्यंग्यात्मक शैली में समालोचना की, किंतु कहीं भी अन्य दर्शनों के प्रति अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है।

सम्यक् समालोचना की यह परंपरा आगम-युग से प्रारंभ होकर क्रमशः सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मतितर्क', समंतभद्र की 'आप्तमीमांसा', मल्लवादी क्षमाश्रमण के 'द्वादशारनयचक्र', जिनभद्रगणी की 'विशेषणवती', 'विशेषावश्यकभाष्य', हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय', 'शास्त्रवार्तासमुच्चय', 'अनेकांतजयपताका' आदि ग्रंथों में पूज्यपाद देवनंदी की 'सर्वार्थसिद्धि', अकलंक के 'राजवार्तिक', 'अष्टशती', 'न्याय विनिश्चय' आदि विद्यानंदी के 'श्लोकवार्तिक', 'अष्टसहस्री' आदि प्रभाचंद्र के 'प्रमेयकमल मार्तंड', रत्नप्रभ की 'रत्नाकर अवतारिका', हेमचंद्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' आदि ग्रंथों में मिलती है। फिर भी यह धारा आलोचक न होकर समालोचक और समीक्षक ही रही। यद्यपि हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि परवर्ती मध्ययुग में वाद-विवाद में जो आक्रामक वृत्ति विकसित हुई थी, जैन दार्शनिक भी उससे पूर्णतया अछूते नहीं रहे। फिर भी इतना अवश्य मान लेना होगा कि जैन दार्शनिकों की भूमिका आक्रामक आलोचक की न होकर समालोचक या समीक्षक की रही है। क्योंकि उनके दर्शन की धुरी-रूप अनेकांतवाद की यही मांग थी।

अनेकांत दृष्टि : समन्वय के सूत्रों की खोज

जैन दार्शनिकों का दूसरा महत्त्वपूर्ण अवदान उनकी अनेकांत आधारित समन्वयात्मक दृष्टि है। जहां एक ओर जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों के एकांतवादिता के दोष का निराकरण करना चाहा, वहीं दूसरी ओर भारतीय दर्शनों के परस्पर विरोधी सिद्धांतों में समन्वय करना चाहा और अन्य दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्यता को देख कर उसे स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया और इस प्रकार विविध दर्शनों में समन्वय के सूत्र भी प्रस्तुत किए हैं। हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सार तत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खंडन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं। किंतु, सिद्धांत में कर्म के जो दो रूप—द्रव्यकर्म और भावकर्म—माने गए हैं, उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहां वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूतस्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है। पंडित सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों—अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों—के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मान कर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मंतव्यों का सुमेल हुआ है।

इसी प्रकार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किंतु जहां चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खंडन ही किया है, वहां हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पंडित सुखलाल संघवी

लिखते हैं—मानव मन की प्रवृत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुंचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववादी की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो, वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्धपुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण, कर्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है। इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह ईश्वर भी है और कर्ता भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है। हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, किंतु वे प्रकृति को जैन परंपरा में स्वीकृत कर्म प्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि सत्य-न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है, क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।

हरिभद्र ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, किंतु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धांत का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही दिया है। क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है, तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सबकुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं हैं, तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रख कर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद—इन तीनों सिद्धांतों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का उच्छेद हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है। अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है। अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदांत के ज्ञान मार्ग को भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए न होकर उन दार्शनिक परंपराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए ही है। स्वयं उन्होंने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्राक्कथन में स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य अन्य परंपराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध कराना है।

दर्शनसंग्राहक ग्रंथों की निष्पक्ष रचना

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धांत को एक ही ग्रंथ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई अन्य ग्रंथ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही परंपराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रंथों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खंडन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परंपरा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किए हैं, किंतु उनकी दृष्टि भी खंडनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का 'नयचक्र'

महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है, किंतु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकांतवाद की स्थापना करना है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में (नय) चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकांतवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें—तभी उचित है, अन्यथा नहीं। 'नयचक्र' की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकांतवाद के मंडन और परपक्ष के खंडन की ही है। इस प्रकार जैन परंपरा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शनसंग्राहक नहीं लिखा गया।

जैनेतर परंपराओं के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अपेक्षा प्राचीन है। फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में संदेह है। इस ग्रंथ में पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अंत में अद्वैत वेदांत की स्थापना की गई है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को भी 'नयचक्र' की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किंतु जहां 'नयचक्र' अंतिम मत का भी प्रथम मत से खंडन करवा कर किसी भी एक दर्शन को अंतिम सत्य नहीं मानता है, वहां 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' वेदांत को एकमात्र और अंतिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रंथ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की जो विशेषता है—वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परंपराओं में दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई. 1350 के लगभग) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किंतु, 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदांत ही एकमात्र सम्यक्दर्शन है। 'सर्वसिद्धांतसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहां हरिभद्र बिना किसी खंडन-मंडन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहां वैदिक परंपरा के इन दोनों ग्रंथों की मूलभूत शैली खंडनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती है, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

वैदिक परंपरा में दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में तीसरा स्थान माधव सरस्वतीकृत 'सर्वदर्शनकौमुदी' का आता है। इस ग्रंथ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक—ऐसे दो भागों में बांटा गया है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन—ऐसे तीन भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तंत्र और सांख्य—ऐसे तीन भाग किए गए हैं। इस ग्रंथ की शैली भी मुख्यरूप से खंडनात्मक ही है। अतः हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' जैसी उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है।

वैदिक परंपरा के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' का आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। **नास्तिक**—अवैदिक दर्शनों में वे छह प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार संप्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। **आस्तिक**—वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थानभेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है, जो उसे पूर्व-उल्लिखित वैदिक परंपरा के अन्य दर्शनसंग्राहक ग्रंथों से अलग करती है। वह यह कि इस ग्रंथ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रांत तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूंकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किए हैं। इस प्रकार प्रस्थानभेद में यत्किंचित उदारता का परिचय प्राप्त होता है। किंतु, यह उदारता केवल वैदिक परंपरा के आस्तिक दर्शनों के संदर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शन कौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है, वह

हमें अन्य परंपराओं में रचित दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परंपराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, किंतु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन और विशेषरूप से वेदांत को ही अंतिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतीत होते हैं।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परंपरा में लिखे गए दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में अज्ञातकृत 'सर्वसिद्धांतप्रवेशक' का स्थान आता है—(इतना निश्चित है कि यह ग्रंथ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है) क्योंकि इसके मंगलाचरण में—**'सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं'**—ऐसा उल्लेख है। पंडित सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का ही अनुसरण करती है। अंतर मात्र यह है कि जहां हरिभद्र का ग्रंथ पद्य में है, वहां 'सर्वसिद्धांतप्रवेशक' गद्य में है। साथ ही यह ग्रंथ हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परंपरा के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम संवत 1265) के **'विवेकविलास'** का आता है। इस ग्रंथ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है। जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक—इन छह दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रंथ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है—

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिव

यह ग्रंथ भी हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र छियासठ श्लोक प्रमाण है।

जैन परंपरा में दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम संवत 1405) के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का आता है। इस ग्रंथ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध)—इन छह दर्शनों का उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रंथ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अंत में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' और राजशेखर के 'षड्दर्शनसमुच्चय' में एक मुख्य अंतर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहां हरिभद्र जैन दर्शन को चौथा स्थान देते हैं, वहां राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पंडित सुखलाल संघवी के अनुसार संभवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शनसंग्राहक ग्रंथ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है। इस ग्रंथ में मेरुतुंग ने बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि छह दर्शनों की मीमांसा की है, किंतु इस कृति में भी हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खंडन के लिए लिखा गया है। एकमात्र इसकी विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की वृत्ति के अंत में दर्शनसंग्राहक अज्ञातकृतक एक कृति का उल्लेख है। इसमें भी जैन, नैयायिक, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक—ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किंतु अंत में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैन दर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को सांप्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शनसंग्राहक-ग्रंथों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रंथों में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं। हमें मानना होगा कि जैन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत किया है। ❖

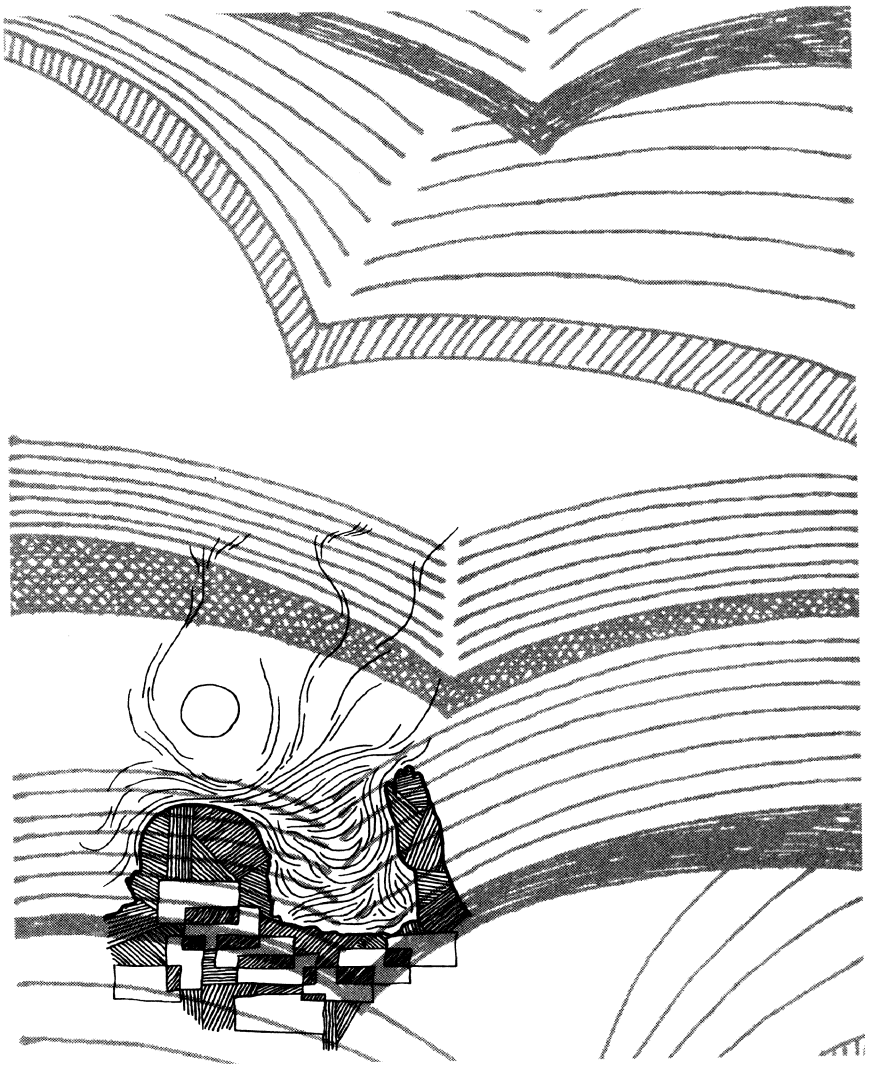

अनुभूति

इस न लौटने वाली यात्रा में
हर भावना को
हर विचार को,
अपने जीवन के क्षणों को
बुनो और उधेड़ो।

अपने साहस को
इतना शीघ्र न तजो,
हर चीज
हर सुबह
फिर शुरू होती है।

निराश मत हो,
अंत में
सूर्य तो हमेशा ही
चमकता है।

—**फेडेरिको मायोर**

रूपांतरण : **योगेश अटल**

8 मार्च :
अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस

स्त्रियों का उद्धार कोई दूसरा नहीं, वह स्वयं ही कर सकती है। गीता में कहा गया है—*'उद्धरेदात्म मात्मानं'*—अपनी आत्मा का स्वयं उत्थान करना होगा। भगवान बुद्ध ने भी यही कहा—*'अप्पदीपो भव'*—अपना प्रकाश बनो। बाइबिल में भी कहा गया है—*Be a lamp on yourself.* असल में स्त्री-शक्ति को जागृत होना होगा। इसके लिए उन्हें नए संघर्ष के लिए नए आयुधों की खोज करनी होगी। उनके लिए शिक्षा और स्वाध्याय अमृत-तुल्य है। स्वावलंबन और आत्मसंयम उनके लिए नई शक्ति होगी। शरीर और इंद्रिय-सुख पर जितना ही अधिक संयम होगा, नारी की स्वतंत्रता उसी अनुपात में बढ़ेगी। आभूषण, वस्त्र और भोग के अन्य साधनों के लिए नारी की जितनी ही अधिक आसक्ति बढ़ेगी, पुरुषों पर उसकी निर्भरता भी बढ़ेगी। ब्रह्मचर्य-साधना केवल ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही नहीं, इसी जीवन में किसी बड़े उद्देश्य के लिए जरूरी है। इसके लिए त्याग और संयमपूर्ण जीवन जरूरी है।

भारतीय नारी : शुक्ल और कृष्ण पक्ष

प्रो.-(डॉ.) रामजीसिंह

भारतीय संस्कृति में नारी के लिए परम सम्मान-सूचक शब्द 'महिला' होता है, जिसका अर्थ ही है—महान। इस सृष्टि और ब्रह्मांड का अग्र भाव नारी रूपी आदि-शक्ति दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती आदि को माना गया है। मीमांसा-सूत्र के धर्मपाद सूक्त-55 के अनुसार आदि-शक्ति से ही सृष्टि की दो धाराएं—तुंग-धारा और स्त्री-धारा प्रवाहित हुई है, जिनसे यह समस्त संसार चल रहा है। इसीलिए स्त्री-शक्ति को आदि-शक्ति के रूप में पूजा जाता है। भगवद्गीता में भी सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में यही दो शक्तियां हैं, जिसे हम प्रकृति और पुरुष कहते हैं। देवी भागवत् महापुराण में—**या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता**—आदि कह कर स्त्री-शक्ति को ही परब्रह्म परमेश्वर माना गया है। यही मातृ-शक्ति ब्रह्मरूपिणी भी है। यही कारण है कि भारतीय तत्त्व-ज्ञान के इस मंत्र से प्रेरित होकर भारतीय धर्म और समाज-विधान में नारी के उत्कर्ष को तरह-तरह से गरिमामय और महिमामय बनाया गया है—**यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता**—भला इससे बढ़ कर नारी की प्रशंसा में और क्या कहा जा सकता है! धार्मिक अनुष्ठान में राम के पहले सीता—सीताराम, कृष्ण के पूर्व राधा—राधाकृष्ण, शंकर के पहले गौरी—गौरीशंकर, विष्णु से पहले लक्ष्मी—लक्ष्मीपति आदि कह कर स्त्री-शक्ति के प्रति अभिनव सम्मान प्रदर्शित किया गया है। पुराणों के अनुसार जब सभी देवताओं का पौरुष दैत्यों और

दानवों के आगे निष्फल हो गया तो वे सब मां दुर्गा और काली के ही शरण में आए। इसीलिए उन्हें महाशक्ति कहा जाता है।

संस्कृत में 'स्त्री' शब्द की व्युत्पत्ति **'स्तृ'** धातु से होती है, जिसका अर्थ है—'फैलना', 'विस्तार' आदि। इसका विशेष संकेत है कि 'स्त्रियां' समस्त मानव-जगत में 'प्रेम' का विस्तार और प्रसार करने वाली शक्ति की प्रतीक हैं।

बहुत सारे गुण और दोष पुरुष एवं स्त्री में समान होते हैं। यदि गुणों को देखें—तो दया, करुणा, प्रेम, परोपकार आदि और यदि दोषों को देखें—तो क्रोध, मद, मोह, काम आदि पुरुष एवं स्त्री दोनों में होते हैं। फिर भी 'शांति की मूर्ति' और 'त्याग की मूर्ति' स्त्री ही हो सकती है, क्योंकि वहां मातृत्व है। माता का प्रेम प्रायः परम निःस्वार्थ ही होता है। कहा ही जाता है—परम मातृ-भक्त शंकराचार्य ने तो संन्यास की मर्यादा स्थगित कर दी और मां की सेवा अंत समय तक की। उन्होंने कहा—**'कुपुत्रोजायेते क्वचदपि न कुमाता न भवति'**—अर्थात् पुत्र कुपुत्र भले हो, माता कुमाता नहीं हो सकती।

शायद प्रकृति ने नारी के साथ मातृत्व और मातृत्व के साथ धृति, त्याग और अपार कष्ट सहन की क्षमता भी जोड़ दी है। भूखे रह कर दैनिक कार्य करते हुए अपने पेट में पलने वाले शिशु-पिंड को अपना रक्त प्रदान कर, असीम कष्ट सह कर उसे प्रसव करना और फिर वर्षों तक अपनी निद्रा त्याग कर जिस प्रकार नव-शिशु का पालन करती है—वह एक 'मां' ही कर सकती है। इसी से मानवता में प्रेम, ममता, वात्सल्य और त्याग आते हैं। ये ही नैतिकता के पदार्थ-पाठ हैं, जो इसके विकास की प्रेरणा हैं। जिस समय मातृत्व की गंगोत्री सूख जाएगी—उसी समय वात्सल्य, दांपत्य, निःस्वार्थ

महिला : घर-समाज की धुरी

❑ आचार्यश्री तुलसी ❑

मनुष्यगति सब गतियों में महान मानी गई है। मनुष्य शब्द में स्त्री और पुरुष, दोनों ही आ जाते हैं। मनुष्य शब्द में जितना महत्त्व पुरुष को दिया गया है, उतना ही स्त्री को भी दिया गया है। कोई किसी से किसी बात में कम नहीं। स्त्रियां घरेलू कार्य करती हैं और पुरुष बाहर का काम करते हैं। इससे कोई ऊंचा या नीचा नहीं हो जाता। यह उच्चता और निम्नता की कसौटी नहीं है। फिर क्या कारण है कि स्त्रियां पिछड़ी हुई कहलाती हैं? इसमें कुछ दोष उनका भी होना संभव है। एक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि वे दोषी हैं और वह दोष यह है कि वे अपने-आपको 'हीन' समझती हैं, अपना आत्म-बल जाग्रत नहीं करतीं, स्वयं को पुरुषों के आश्रित समझती हैं। पर, मेरे कहने का मतलब यह कत्तई नहीं कि स्त्रियां स्वच्छंद बनें, क्रांति करें और क्रांति के नाम पर भ्रांति अपना लें, अपने-आपको उच्छृंखल बना लें। मैं तो ऐसा इसलिए कहता हूं कि आज जिस आजादी के नशे में राजनीतिज्ञों में, पुरुषों में, छात्रों में जो उच्छृंखलता घर कर गई है, उसका शिकार स्त्रियां न बन जाएं। वे मानव हैं, उनमें मानवता रहे। दुनिया में चार चीजों की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है। उनमें से एक मानवता है।

मानवता पाने के लिए उसे धर्म और आध्यात्मिक शिक्षा पाने की आवश्यकता है। धर्म और आध्यात्मिक शिक्षा पाने में स्त्रियों का स्थान कम नहीं है। जिस प्रकार पुरुष इसमें स्वतंत्र हैं, स्त्रियां भी स्वतंत्र हैं। इसका एक ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने है। हमारी जितनी भी साध्वियां हैं, सब पढ़ी-लिखी हैं और अपनी साधना में लीन हैं। धर्म-प्रचार करने में इनका भी बड़ा योगदान है। धर्म-प्रचार के लिए ये दूर-दूर तक पैदल विहार करती हैं। ये इसी समाज की ही बहिन-बेटियां हैं, जो कि →

सेवा आदि उदात्त मानवीय भावों की गंगा भी मरुस्थल में परिवर्तित हो जाएगी। इसी प्रकार जहां निःस्वार्थ सेवा और प्रतिदान की आकांक्षा से मुक्त ममता और करुणा होगी, वहीं शांति का अखंड वातावरण बन सकता है।

आज की सभ्यता हिंसा की ज्वालामुखी बन चुकी है, ऐसे में सत्याग्रही शांति की शक्ति का आदि स्रोत मातृ-शक्ति या स्त्री-शक्ति ही बन सकती है। यह सच है कि शांति की मूर्ति गढ़ी नहीं जा सकती, लेकिन यदि गढ़ी भी जाए तो वह मातृ-शक्ति की ही मूर्ति होगी। क्योंकि हिंसक-समाज को वही बचा सकती है।

पुरुष-सत्तात्मक समाज ने सृष्टि के आरंभ से ही अपना वर्चस्व प्राप्त करने के लिए हिंसा और युद्ध की अभियंत्रणा का निर्माण किया है। शुरू में तो नख-शिख और दंत के द्वारा युद्ध का आरंभ हुआ, फिर मल्ल-युद्ध के अखाड़े बने। फिर काठ एवं लकड़ियों से, गदा और धनुष से युद्ध होने लगे। धातु युग में बर्छी, भाले व तलवार आदि के प्रयोग हुए और बारूद-युग में बंदूकें, तोप एवं बमों का सहारा लिया गया। आज अणुयुग में हमने अणु-परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर लिया है। आज लगभग तीस हजार परमाणु बम बन चुके हैं। यदि कभी आणविक युद्ध हुआ तो संसार की समस्त मानव जनसंख्या के साथ अन्य जीवधारी पशु-पक्षी आदि का संपूर्ण विनाश हो जाएगा। यही नहीं, पर्यावरण के प्रदूषण से विषाक्त वायु, विषाक्त वर्षा, ओजोन की छतरियों में विनाशकारी छिद्र, ऋतु-परिवर्तन एवं प्रजनन-क्रिया ही खंडित हो जाएगी। इसीलिए मार्टिन लूथर किंग ने चेतावनी देते कहा था कि यदि हम युद्ध का अंत नहीं करेंगे तो युद्ध ही हमारा अंत कर देगा।

धर्म में लीन हैं और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने में दत्तचित्त हैं।

समाज में स्त्री-शिक्षा पर ध्यान कम दिया जाता है। इसी कारण स्त्रियों में अनेक तरह की रूढ़ियां घर कर गई हैं। धर्म के नाम पर नाना प्रकार की रूढ़ियां उन्हें पकड़ा दी गई हैं। इसी तरह धन, ऐश्वर्य, संतान के लिए देवी-देवताओं को पूजा जाता है। वे देवी-देवताओं से लेकर पीर-पैगंबरों तक को पूजती हैं, पर इस तरह होना-जाना क्या है? यही नहीं, धर्म के नाम पर पशुओं की बलि भी दी जाती है। बहिनो! इससे धर्म होने का नहीं। धर्म होगा आत्म-शुद्धि से। बिना आत्म-शुद्धि के धर्म नहीं। आत्म-शुद्धि के लिए पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका पूर्णरूपेण त्रिकरण और त्रियोग से साधु पालन करते हैं। एक गृहस्थ से इनका पूर्णरूपेण पालन संभव नहीं, पर कम-से-कम इनके छोटे नियमों—अणुव्रतों को तो अवश्य अपना सकते हैं।

हिंसा-मात्र से पूर्णरूपेण न बच सकें, पर कम-से-कम निरर्थक हिंसा तो मत करो। ऐसा झूठ तो मत बोलो, जिससे अनर्थ होता हो। ऐसा सत्य भी मत कहो, जो अप्रिय हो, हिंसाकारी हो। इसी तरह चोरी छोड़ो, अब्रह्मचर्य छोड़ो, संचयवृत्ति छोड़ो। आवश्यक वस्तुओं का संचय न छोड़ा जा सके, तो कम-से-कम बेमतलब संचय तो मत करो। जहां एक साड़ी की जरूरत हो, वहां पचासों साड़ियां मत खरीदो। जहां सादी साड़ी से काम चल सके, वहां जरी और किनारी की बेशकीमती साड़ी काम में मत लाओ। अपने जीवन में सादगी लाओ और अपने परिवार वालों को यह शिक्षा दो कि हमें सादा जीवन जीना है, नेकी का जीवन जीना है, ईमानदारी का जीवन जीना है। 'ब्लैक' और भ्रष्टाचार से आने वाला पैसा परिवार को गलत रास्ते पर ले जाता है। हमें नहीं चाहिए वह सुख-भोग, जिसकी तह में मानवता खतरे में हो। मैं समझता हूं, इससे बहुत-कुछ नैतिक उत्थान होगा और इसके साथ-साथ सामाजिक उत्थान होना भी संभव है। ●

आज अणु और अहिंसा के बीच चुनाव है। अतः आज शक्ति के रूप में मातृ-शक्ति के आह्वान की अनिवार्यता हो गई है। राजनीति, प्रचलित सांप्रदायिक धर्म और दृष्टिहीन विज्ञान भी हमारी रक्षा करने में असमर्थ हो गए हैं। नैतिकता के बिना, राजनीतिक वैश्विकता के बिना, धर्म और अध्यात्म के बिना आज का विज्ञान मानव-सभ्यता के लिए आत्म-हत्या के समान है। इसीलिए करुणा और ममता, वात्सल्य और प्रेम का प्रक्षेपास्त्र आत्म-रक्षा के रूप मातृ-शक्ति की शरण में जाना ही होगा।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय संस्कृति में स्त्री-पुरुष की आध्यात्मिक समानता पर इसलिए जोर था कि दोनों एक ही आदि-तत्त्व की अभिव्यक्तियां हैं। दोनों एक ही महाशक्ति से उद्‌भूत हैं। दोनों ईश्वर अंश हैं। अद्वैत-वेदांत तो इससे भी आगे जाकर **'तत्त्वमसि'** और **'अहं ब्रह्मास्मि'** की बात करता है। स्त्री-पुरुष का शरीर-भेद तो सृष्टि की नियति है, पर शरीर भेद से मन-भेद या आत्म-भेद समझना न अध्यात्म है और न विज्ञान सम्मत ही है। दोनों का तत्त्व एक है। इसीलिए एक को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन या निकृष्ट समझना भी भ्रम है।

दुर्भाग्य है कि वेद-उपनिषद युग के पश्चात् मध्य-युग में कुछ पंडितों, विद्वानों और विचारकों ने अपनी कल्पना और कवित्व शक्ति के आधार पर इस अभेद के स्थान पर भेद का निरूपण किया है, जिससे हमारे शास्त्र, साहित्य एवं धार्मिक-सामाजिक व्यवहार प्रभावित हैं। इसकी पराकाष्ठा यहां तक हो गई कि स्त्री को शास्त्र-पठन या मोक्ष-प्राप्ति के अधिकार से भी वंचित माना गया। इसके विपरीत सांख्य-दर्शन ने पुरुष-प्रकृति के द्वैत का आधार लेकर पुरुष को चेतन-तत्त्व और प्रकृति को स्त्री-तत्त्व का प्रतीक बता दिया। वस्तुतः यह तो एक कल्पना है, जिसके आधार पर जड़ एवं चेतन-तत्त्व का भेद बताया गया। सृष्टि में जड़-चेतन का भेद प्रायः एक सर्व सम्मत दार्शनिक मान्यता है, लेकिन इस भेद को दर्शन के उच्च स्तर से उतार कर वैयक्तिकता की भाषा को यथार्थ-भेद समझना एक विराट विभ्रम है। यों भी सांख्य इस द्वैत का दार्शनिक समाधान तर्क से करने में विफल होकर **'पंगु-अंधवत उभयोरपि'** के उपमान का ही सहारा लेता है, जो इस विचार-दर्शन की संरचना की दुर्बलता का प्रमाण है।

वेदों में तो पहले ही से मातृ-शक्ति, फिर बाद में पितृ-शक्ति और अंत में आचार्य-शक्ति आदि का अभिवादन है—'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव'—का उल्लेख है। वेद में यद्यपि स्त्री-पुरुष समानता का विचार आया है, किंतु माता का स्थान प्रथम है—**'वस्याम् इंद्रसि मे पितुः माता च मे छदयतः समावसो'**—इसका अर्थ है कि इंद्र पिता से बढ़ कर है। वेद की स्तुति है कि—'ईश्वर और माता ही मनुष्य के पापों को ढक सकते हैं या उसके अपराधों को क्षमा कर सकते हैं।'—इससे यही दिखता है कि मातृत्व का एक प्रमुख गुण क्षमा-शीलता है। मातृत्व के विशेष महत्त्व को दर्शाते हुए मनुस्मृति में कहा गया है—**'उपाध्यायान् दशाचार्यः, आचार्याणा शतम् पिता, सहस्त्रां तु पितृन् माता गौरवातिरिच्यते'**—माता का स्थान उपाध्याय, आचार्य और पिता से भी ऊपर है। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद में ऋषि ने कहा है कि—पहला गुरु माता है, दूसरे स्थान पर पिता और तीसरे स्थान पर आचार्य है।—**'मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान् ब्रूयात्'**—ज्ञानदेव ने भी माता-गुरु की श्रेष्ठता को अभंग में गाते हुए बताया है कि शिशु पालने में ज्ञान सीखता है। मदालसा ने अपनी गोद और पालने में झुलाते हुए अपने पुत्र को ब्रह्म-ज्ञान सिखा दिया था। स्वयं गांधीजी ने अपनी माता से अपने जीवन का आधारभूत आदर्श 'सत्य' और 'अहिंसा' प्राप्त किया था। इसका भावार्थ यही है कि भारतीय संस्कृति ने नारी को अधिक प्रतिष्ठा के साथ अधिक अधिकार भी दिए। यदि वह चाहे तो ब्रह्मचारिणी, संन्यासिनी या विवाहिता बन कर रहे और उसकी इच्छा हो तो वह किसी व्यक्ति का वरण करे।

वैदिक काल में वेद-विद्या में पारंगत महिलाओं में गार्गी जैसी प्रखर विदुषी, मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी, दमयंती जैसी सुशीला और मदालसा जैसी माता-गुरु आदि अनेक प्रखर विदुषियों और महान महिलाओं के उल्लेख आते हैं। गार्गी तो महर्षि याज्ञवल्क्य से भी गंभीरतम प्रश्न पूछने का साहस करती थी। गीता में स्त्रियों की सात शक्तियों का उल्लेख द्रष्टव्य है—**'कीर्तिः श्रीर्वाक्य नारीणां स्मृतिमेध धृतिः क्षमा।'**

इन सप्त-गुणों के प्रतीक के रूप में नारी की महानता

अत्यंत स्वाभाविक है। भारत के बाहर भी सात-लोक और सात-आसमानों का वर्णन मिलता है। इस तरह से सप्त-शक्तियों की कल्पना में नारी-शक्ति के व्यापक वर्णन में सर्वप्रथम उसे 'कीर्ति' के रूप में देखा जाता है। अच्छी कीर्ति ही अच्छे परिणाम देती है, जिससे सद्भावना पैदा होती है। वस्तुतः कीर्ति अच्छी संस्कृति और सभ्यता का परिणाम है। कृति में कीर्ति अंतर्निहित है। हमारा कार्य ही हमारे यश को बढ़ाता है, हमारा कर्म ही हमारा जीवन है। हम उन्हीं का स्मरण करते हैं, जिनका जीवन और कर्म पुण्यवान और कीर्तिमान होता है। इसीलिए कहा गया है—**'नारीणां कीर्तिः।'**—अतः कृति की परंपरा चलाने की जिम्मेवारी स्त्रियों पर आ गई है। यदि स्त्री-समाज नहीं रहे, तो समाज के व्रत-त्यौहार, बुजुर्गों के प्रति आदर, शिष्टाचार आदि का संरक्षण होना संभव नहीं है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक परंपराओं की संरक्षिका के रूप में स्त्री का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

स्त्री-शक्ति का दूसरा स्वरूप 'श्री' के रूप में देखते हैं। श्री शक्ति है, जिसको हम किसी श्रेष्ठ पुरुष, देव-देवी और भगवान के नाम के साथ जोड़ते हैं। यह शब्द ऋग्वेद में आता है—**'स दर्शतः श्री'**—अर्थात् उसकी 'श्री' या 'शोभा' दर्शनीय है। जिसकी कांति श्री-दर्शनीय है, वही अग्निस्वरूप दृश्यमान होता है। चाहे अतिथि सेवन हो या उत्पादन-सृजन कार्य हो, वही 'श्री' या 'लक्ष्मी' का प्रतीक है। जहां मनुष्य श्रम नहीं करता है, वहां किसी प्रकार की 'शोभा' या 'श्री' नहीं हो सकती। नारी का जीवन प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक सृजनमूलक और श्रम-प्रधान रहता है। चाहे वह अपने शिशु को मदालसा की तरह वेदांत की शिक्षा देने का हो या गृहकार्य में कुशलता से सरस-भोजन बनाकर समूचे परिवार को जीवन और आनंद देती हो। चाहे वह सामाजिक-संस्कारों और परंपराओं का अभिरक्षण करती हो और चाहे घर और बाहर एक सौंदर्य पैदा करती हो। इसीलिए गीता के अंतिम अध्याय के अंतिम श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण और उनके परम अनुसरणकर्ता अर्जुन को स्मरण किया गया है—**'यत्र योगेश्वरः कृष्णः, तत्र श्रीर्विजयो ध्रुवः।'**

'श्री' के पश्चात् 'वाणी' के रूप में नारी का वर्णन किया जाता है। वाणी का मनुष्य के जीवन और समाज में अद्भुत महत्त्व है। वाणी तो मनुष्य के साथ अन्य पशु-पक्षियों को भी प्राप्त है, लेकिन मनुष्य की वाणी में भाषा और वर्णमाला का भी विशिष्ट स्थान है। यही कारण है कि मानव सभ्यता का अन्य जीव-जंतुओं से इतना अधिक विकास हो पाया है। नवजात शिशु को मां से ही वाणी और भाषा मिलती है। जिस प्रकार शिशु के लिए मां के दूध का कोई विकल्प नहीं हो सकता, उसी प्रकार मातृभाषा का भी कोई विकल्प नहीं हो सकता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कहा है—**'मातृभाषाय मातृदुग्धाय च'**—यानी मातृभाषा मां के दूध के समान है। वाणी की शक्ति के साथ इसकी सीमाएं भी हैं, जिसमें सत्य सर्वप्रथम है। सत्य सत्य होता है, लेकिन उसका दर्शन समय के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में होता है—जिसे हम वाणी के रूप में प्रकट करते हैं। एक ही व्यक्ति बालक-रूप होता है, वह युवा और वृद्ध-रूप धारण करता है। व्यक्ति एक ही है, लेकिन उसके रूप भिन्न-भिन्न हैं। वाणी सत्य तो हो ही, लेकिन प्रिय भी हो—**'सत्यं वद, प्रियं वद'**—इसके लिए यह आवश्यक है कि वाणी में वस्तु के स्वरूप की न तो कुछ कम अभिव्यक्ति हो और न अधिक ही हो। इसी को हम 'मित्-भाषण' या 'सम्यक्-वाणी' कह सकते हैं। सम्यक्-चिंतन के लिए सम्यक्-वाणी भी चाहिए। भगवान बुद्ध ने भी वचन और संप्रलाप को दूर करने का आदेश दिया है। भगवान महावीर और पतंजलि आदि ऋषियों ने भी 'पंचव्रतों' या 'यमों' में सम्यक्-वाणी का महत्त्व बताया है। वाणी का जितना महत्त्व है, मौन का महत्त्व उससे कम नहीं है। मनन और ध्यान साधना के लिए भी मौन आवश्यक है। वस्तुतः मौन वाणी का पथ्य है। इसीलिए बिना सोचे-विचारे स्थान, काल और पात्र की उपेक्षा करते हुए वाणी का प्रयोग अनिष्टकर है।

कोई भी कर्म जब किया जाता है, तो वह अपना शुभ और अशुभ संस्कार छोड़ता है और वही हमारी संस्कृतियों का अंग हो जाता है। यह ठीक है, यही हमारी स्मृति है। इस दृष्टि से हमें विस्मृति पर भी ध्यान देना चाहिए, क्योंकि हमारे मस्तिष्क में अच्छी स्मृतियों के साथ बुरी स्मृतियां भी रहती हैं। उन्हें याद रखने की अपेक्षा, भूलना ही श्रेयस्कर है। इसीलिए हमें शुभ-स्मृतियों का स्मरण और अशुभ-स्मृतियों का विस्मरण करना सीखना चाहिए। यह

ठीक है कि मनुष्य को अतीत का स्मरण कर उससे सबक लेना चाहिए, लेकिन जब अतीत की अशुभ-स्मृतियां और कुसंस्कार जकड़ जाते हैं तो उससे अंधविश्वास और रूढ़ियां उत्पन्न होती हैं।

स्मृति-शक्ति के संवर्धन के लिए ब्रह्मचर्य बहुत ही लाभदायक है। इसके क्षीण होने से स्मृतियां भी क्षीण होती हैं। इसीलिए यदि हमें स्मृति-शक्ति को सशक्त करना हो तो अशुभ-स्मृतियों का परित्याग, शुभ-स्मृतियों का संरक्षण और ब्रह्मचर्य साधना से स्मृति-शक्ति को बलवती बनाना चाहिए। अच्छे स्वास्थ्य के साथ, शुभ-स्मृतियों के साथ चित्त शुद्धि और आत्म-ज्ञान जीवनोपयोगी है। माताओं में तो यह आत्म-ज्ञान अत्यंत नैसर्गिक है। वह तो अपने सभी बच्चों को शुभ-कृतियों का ही स्मरण कराती है और उसकी दुष्टता, उसकी त्रुटियों को भूल जाती है। इस अभेद दर्शन को ही हम आत्म-ज्ञान का सोपान मान सकते हैं।

'मेधा' के रूप में भी स्त्री-शक्ति का वर्णन है। 'मेधा' का मूल अर्थ—मूल्यांकन है, जिसे अरबी भाषा में 'अक्ल' कह सकते हैं। यह मूल्यांकन या आकलन वस्तुतः किसी वस्तु, विचार या परिस्थिति का सांगोपांग विश्लेषण भी कहा जा सकता है। इस पंक्ति में सबके गुण-दोष का विश्लेषण और संश्लेषण होता है, अभाव और उपलब्धियों का आकलन होता है। इसके लिए एक तरफ ज्ञान और विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है और दूसरी तरफ अपने सारे राग-द्वेष को भूल कर उसे समग्रता में समझने की आवश्यकता है।

स्त्री-शक्ति का प्रतीक बहुत ही स्पष्ट रूप में 'धृति-शक्ति' में देखा जा सकता है। मातृ-शक्ति में अपार कष्ट-सहिष्णुता और आत्म-त्याग निहित है। उसे अपने शिशु और कुटुंब के लिए अपने सुख को भूल कर अखंड श्रम-साधना में जो सुख मिलता है और जो धृति का उसमें दर्शन होता है—उसे हम एक दिव्य-विभूति ही मान सकते हैं। इसके लिए मन का नियंत्रण, इंद्रियों का नियंत्रण और संयम आवश्यक है। धृति-शब्द भी गीता, मनुस्मृति आदि में प्रकृष्ट रूप से आया है। जैनों में भी धृति को दशांग-धर्म में रखा गया है। मनु ने तो धर्म के दस लक्षणों में धृति को ही प्रथम स्थान दिया है। शायद धैर्य और उत्साह से ही कोई बड़ा कार्य सफल हो सकता है। जिसके जीवन में धृति नहीं है, वह छोटी-छोटी कठिनाइयों और असफलताओं से हार कर बैठ जाता है। धृति का महत्त्व जीवन के हर क्षेत्र में आता है—चाहे वह शिक्षण, सेवा या उद्यम का हो। इस दृष्टि से नारी को हम 'धृति' का एक श्रेष्ठ प्रतीक मान सकते हैं।

नारी का अंतिम प्रतीक 'क्षमा' माना गया है। वस्तुतः क्षमा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का एक स्वतंत्र मूल्य है। जिस प्रकार पृथ्वी सहज-भाव से हम सब का बोझ उठाती है और हमें जीवित रहने के लिए अवदान करती है, यदि इस प्रकार की भावना और प्रेरणा मानव समाज में आ जाए तो हम एक सद्भावना और शांतिपूर्ण समाज का निर्माण कर सकते हैं। 'क्षमा' का दूसरा अर्थ द्वंद्व-सहिष्णुता है। जब परस्पर विरोधी क्रियाओं की प्रतिक्रिया में हम स्थिर रहते हैं, तो उसे क्षमा कहते हैं। क्षमा कोई स्वार्थ या नफा-नुकसान का बनियाशाही स्वरूप नहीं है। यह एकतरफा दयाभाव से निःसृत होता है। वसिष्ठ के पुत्र की हत्या करने वाले विश्वामित्र के चरित्र को वसिष्ठ द्वारा पूर्ण-चंद्रमा के धवल प्रकाश की तरह बताना क्षमा की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार प्रभु ईसामसीह के द्वारा अपने को सूली देने वाले के लिए प्रार्थना करना क्षमा का एक उत्कृष्टतम रूप है। महात्मा गांधी भी अपने को गोली मारने वाले के प्रति बिना कोई राग-द्वेष व्यक्त किए केवल भगवान का नाम लेकर इस संसार से विदा हो गए थे। वस्तुतः क्षमा-भावना के बिना सत्याग्रह संभव ही नहीं है।

क्षमादान के अनेक प्रकार हो सकते हैं, लेकिन मातृ-शक्ति में क्षमा के साथ 'प्रेम' का अद्भुत सम्मिश्रण है। उसकी संतान उसके साथ चाहे जैसा भी व्यवहार करे, माता उससे किसी तरह के वैर-भाव की कल्पना ही नहीं कर सकती। अपने पति द्वारा अपने प्रति निर्मम-दुर्व्यवहार के उत्तर में भी वह उसकी दीर्घायु के लिए ही व्रत करती है। यह कोई भय या कायरता नहीं, बल्कि नारी के क्षमा-भावना का उत्कर्ष है। नारी के गौरवशाली गुणदर्शन का अध्याय जिस दिन समाप्त हो जाएगा, शायद मानव-सभ्यता का भी अंत हो जाएगा।

प्राचीन भारतीय संस्कृति की उदात्त यश पताका

स्त्री-शक्ति की त्याग और सेवा का ही परिणाम है। उसे सांसारिक और संन्यासिनी, गृहस्थ और पारमार्थिक, शिक्षित और अशिक्षित आदि श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जा सकता। वह एक आदर्श और प्राकृतिक शिक्षक, एक नैतिक धर्मगुरु, एक सिद्ध गृह-प्रबंधनकर्तृ, समाज में शील, शिष्टाचार और परंपराओं की रक्षिका, कला और सौंदर्य-बोध की निष्ठावान सेविका के साथ-साथ कष्ट सहन की अपार क्षमता रखने वाली और संसार तथा अध्यात्म को मानवी जीवन में देवत्व से जोड़ने वाली एक अमर-चरित्रा है।

लेकिन, जहां हमने प्राचीन भारतीय परंपरा में स्त्री-शक्ति की गौरवमयी गुण-गाथा बताई है, वहां स्त्री-शक्ति के दैन्य और दुर्भाग्य को उपस्थित करने से एक घबराहट होती है। लेकिन, सत्य न तो भारतीय होता है और न अभारतीय। न वह प्राची के हाथ बिका है, न प्रतीची के हाथ। इसलिए सत्य को साक्षी रख कर हम विनम्रतापूर्वक यह कहना चाहेंगे कि नारी की दुर्गति का इतिहास भी हमें निष्पक्ष होकर देखना चाहिए।

हमारे शास्त्रों और कवियों की वाणी और धार्मिक परंपराओं में स्त्री-शक्ति और साथ-साथ व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में जो भेद-भाव और अन्याय किए गए हैं—वह भारतीय संस्कृति का एक कठोर अभिशाप है। यह दुर्भाग्य है कि जिस स्त्री-शक्ति को हम साक्षात परब्रह्म-परमेश्वर की आदि-शक्ति मानते हैं, जिसके आदि-शक्ति के रूप में दुर्गा, काली, भवानी आदि दुर्द्धर-शक्ति रखने वाली देवियों का वर्णन किया है और उन्हें महान मानते हुए 'महिला' शब्द से संबोधित किया है, उसी नारी के लिए संस्कृत में एक दूसरा शब्द 'अबला' का भी प्रयोग किया गया है। इसीलिए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने स्त्री-शक्ति की दुर्दशा का भावपूर्ण वर्णन किया है—**'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आंचल में है दूध और आंखों में पानी।'**—मध्ययुग के कुछ हिंदूशास्त्रों में और कुछ पुराण और महाकाव्यों में भी नारी के संबंध में जो मर्यादाएं, आख्यान आदि हैं—वे समस्त भारत और भारतीय संस्कृति के लिए सोचनीय हैं। कुछ शास्त्र तो ऐसे हैं जो स्त्री-जाति को ही अपवित्र और अशुद्ध मानते हुए उन्हें मोक्ष की अधिकारिणी भी नहीं मानते। यही नहीं, ब्रह्मचर्य के अधिकार, वेदशास्त्र या पठन-पाठन के अधिकार से भी वंचित किया है।

अध्यात्म में स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं हो सकता है। दोनों एक ही आदि-शक्ति से उद्‌भूत माने गए हैं। इसलिए स्त्री को पुरुष की अपेक्षा अपवित्र मान कर यज्ञ और यज्ञोपवीत, वेद और वेद-शास्त्र, मोक्ष और निर्वाण आदि से वंचित रखना भारतीय संस्कृति का अपमान तो है ही, अध्यात्म के साथ भी यह एक प्रवंचना है।

भारत में तो कुछ ऐसे संप्रदाय भी रहे हैं, जो स्त्री-दर्शन को भी पाप समझते हैं। इक्कीसवीं शताब्दी में यह दुर्भाग्य ही है कि कुछ संप्रदायों में नारी के प्रति ऐसा अपमान हो। यही नहीं, यदि त्रेता से भी शुरू करें, तो आदिकवि वाल्मीकि के द्वारा चौदह वर्ष वनवास से लौटने पर जगज्जननी सीता की अग्नि-परीक्षा और फिर उनकी अति संवेदनशील गर्भावस्था में निर्वासित कर देना शायद कभी भी क्षम्य नहीं हो सकता, आज तो क्षम्य नहीं ही है। यदि सीता के चरित्र पर शक किया जाए और उनकी अग्नि-परीक्षा आवश्यक समझी जाए, तो स्वयं राम और लक्ष्मण उसके अपवाद कैसे हो सकते हैं? यदि राम परब्रह्म हैं, तो सीता भी जगज्जननी है। फिर किसी अप्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा क्रोध और द्वेष में जगज्जननी के विषय में कोई प्रवाद उठाने के कारण—**'लोकाराधनायाय त्यजदेकं जानकीं अपि'**—का आधार लेकर इस कृत्य को प्रशंसित करना नारी का अपमान तो है ही, इससे मानव जाति भी कलंकित होने से नहीं बच सकती। इसी प्रकार द्वापर युग में हस्तिनापुर की भरी सभा में द्रौपदी जैसी अद्वितीय नारी का रजस्वला स्थिति में चीरहरण करना केवल उन्हीं का अपमान नहीं, प्राचीनकाल की भारतीय सभ्यता का भी अपमान है। धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर को जुए में अपने सभी भाइयों और द्रौपदी को दांव पर लगाने का हक किसने दिया था? और, सभा में बैठे हुए अजेय वीरभूषण और धर्म के विग्रह-स्वरूप भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि के इस प्रकार के मौन को क्षम्य नहीं बता सकते।

पुराणों की कथाओं को हम कितना गिनाएं। इन्हीं गलत मान्यताओं के परिणामस्वरूप मध्ययुग का इतिहास हिंदूधर्म और संस्कृति का काला इतिहास कहा जाएगा।

जिस समय अनगिनत ललनाओं को उनके पतियों की मृत्यु पर उनकी इच्छाओं के विपरीत जबर्दस्ती कुछ नशा पिला कर पति की चिता पर निर्ममता से जला कर इसे धर्म की संज्ञा दी गई, वह क्या है? इस अमानवीय सती-प्रथा की निष्ठुरता के साथ-साथ इसकी प्रवंचना तो यही है कि अपनी विवाहिता स्त्री के मरने पर उसकी चिता पर उसके साथ जल कर अपवाद-स्वरूप भी किसी पुरुष ने जान नहीं दी। प्राचीन धार्मिक आख्यानों के इन अवांछित और पापपूर्ण विधान के कारण कुरीतियों ने भी भारतीय संस्कृति में धर्म का स्थान पाया। इसी के कारण दहेज-प्रथा का दैत्य हर वर्ष हजारों नवविवाहिता सौभाग्यवती बहुओं का उत्पीड़न ही नहीं, अग्नि-दहन का दुर्भाग्य दे जाता है। वस्तुतः आज इक्कीसवीं शताब्दी में भी स्त्री-पुरुष की इतनी गंभीर विषमता इसके सामाजिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए 'राक्षस' है।

मनुस्मृति के अनुसार बाल्यावस्था में स्त्रियों को माता-पिता का, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में अपनी संतान का आश्रय और संरक्षण चाहिए। शायद भारतीय स्त्री-समाज के भाग्य में स्वतंत्रता लिखा हुआ ही नहीं है। अध्यात्म की दुहाई देने वाले ये नहीं समझते कि पुरुषत्व और स्त्रीत्व, दोनों में कोई आध्यात्मिक भेद नहीं है। यदि स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है, तो यह एक आध्यात्मिक प्रवंचना है। स्त्री और पुरुष, दोनों एक ही सृष्टि की कृतियां हैं। यदि पुरुष संन्यासी और ब्रह्मचारी हो सकता है, तो स्त्रियां भी ब्रह्मवादिनी और ब्रह्मचारिणी हो सकती हैं। हमें समाज, संस्कृति और धर्म को परिपूर्णता में देखना चाहिए। स्त्री-पुरुष का भेद जैविक स्तर पर सृष्टि कार्य के लिए हुआ है। बाकी सामाजिक, सांस्कृतिक, ज्ञान-विज्ञान, संगीत और कला आदि सभी क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष की असमानता का प्रतिपादन असभ्यता की एक निशानी है। वेद में जब—'स्त्री शक्ति को राष्ट्रीय संगमनी वस्तुनाम्'—आत्म-विश्वास और शक्ति से भरी हुई गर्जना के साथ स्त्री-शक्ति घोषित किया जाता है और कहा जाता है कि सृष्टि के सारे प्राणी उसी के सहारे रहते हैं। प्रकृति ने स्त्री-पुरुष दोनों को बनाया है, तो उसका यह संकेत है कि दोनों को परस्पर समानता के भाव से प्रेम और सद्भाव से रहना चाहिए।

लेकिन, स्त्रियों का उद्धार कोई दूसरा नहीं, वह स्वयं ही कर सकती है। गीता में कहा गया है—**'उद्धरेदात्म मात्मानं'**—अपनी आत्मा का स्वयं उत्थान करना होगा। भगवान बुद्ध ने भी यही कहा—**'अप्पदीपो भव'**—अपना प्रकाश बनो। बाइबिल में भी कहा गया है—**Be a lamp on yourself.** असल में स्त्री-शक्ति को जागृत होना होगा। इसके लिए उन्हें नए संघर्ष के लिए नए आयुधों की खोज करनी होगी।

उनके लिए शिक्षा और स्वाध्याय अमृत-तुल्य है। स्वावलंबन और आत्मसंयम उनके लिए नई शक्ति होगी। शरीर और इंद्रिय-सुख पर जितना ही अधिक संयम होगा, नारी की स्वतंत्रता उसी अनुपात में बढ़ेगी। आभूषण, वस्त्र और भोग के अन्य साधनों के लिए नारी की जितनी ही अधिक आसक्ति बढ़ेगी, पुरुषों पर उसकी निर्भरता भी बढ़ेगी।

ब्रह्मचर्य-साधना केवल ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही नहीं, इसी जीवन में किसी बड़े उद्देश्य के लिए जरूरी है। इसके लिए त्याग और संयमपूर्ण जीवन जरूरी है। संन्यास और ब्रह्मचर्य के जीवन पर केवल पुरुषों का ही एकाधिकार हरगिज नहीं मानना चाहिए। विनोबाजी के पवनार स्थित ब्रह्मविद्या-मंदिर में संन्यास-जीवन सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप से सामूहिक जीवन-साधना का एक उदाहरण है।

आज भारतीय धार्मिक परंपरा में स्त्रियों के लिए वैराग्य और समाज-सेवा का कोई सुस्पष्ट विधान ही नहीं दिखता। असल में पुरुष-समाज में स्त्रियां इसीलिए अधिक भयभीत हैं, क्योंकि उनके मन में आत्मशक्ति का अभाव रहता है। यदि वह समझ लें कि वे केवल शरीर, वस्त्र और इंद्रियों की समूह भर ही नहीं हैं, इससे परे आत्म-बल भी हैं, तो उन्हें न कोई भय-शोक हो सकता है और न कष्ट। अतः भोग-संयम और उत्तरोत्तर आत्म-संयम स्त्री-शक्ति का सच्चा गांडीव है। इसी प्रकार स्वाध्याय भी उनके लिए आत्मशक्ति का अजस्र स्रोत है।

आज भारत में स्त्रियों की शिक्षा और साक्षरता बहुत कम है और ऊंचे स्तर की शिक्षा में तो उनका स्थान अत्यल्प ही है। इसीलिए उनमें तेजस्विता का अभाव रहता है। स्वाध्याय से विद्या तेजस्विनी होती है। जब बुद्ध,

वर्द्धमान, मंसूर, ईसा, सुकरात और अफलातून की तरह अवतार पुरुष और दार्शनिक मनीषी के रूप में स्त्रियां जन्म लेंगी, तो समाज में उनका अवश्य ही आदर होगा।

आज विश्व भर में पुरुषों का इसीलिए प्राधान्य है कि स्त्रियां दबी हुई हैं और पुरुष आगे हैं। जब स्त्रियां भी शंकराचार्य और दिग्नाग की तरह प्रतिभाशाली, तेजस्विनी बनेंगी—तो संपूर्ण नारी समाज का तो कायाकल्प होगा ही, साथ-ही-साथ वे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक नेतृत्व भी प्राप्त कर पाएंगी।

भौतिकवादी पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण स्त्री-शक्ति के विकास के लिए आत्म-हत्या के समान है, जिसमें नारी-मुक्ति के लिए नारी-असंयम और पुरुष विद्वेष निहित है। जीवन की यात्रा में स्त्री और पुरुष की समानता पर आधारित एक-दूसरे के लिए प्रेम और सहयोग जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। यदि केवल पुरुष या केवल नारी से सृष्टि चल सकती तो प्रकृति एक ही का सृजन करती, लेकिन सृष्टि के शाश्वत प्रवाह के लिए न केवल मानव-समाज में, बल्कि पशु-पक्षी एवं बहुत दूर तक वनस्पति के बीच भी स्त्री और पुरुष—दो धाराओं का विधान है।

परस्पर प्रेम और त्याग के अभाव में आज मानवीय जीवन अविश्वास, अस्वस्थ स्पर्धा और घृणा के आधार पर चल रहा है। यही कारण है कि आज मात्र भोग-सुख के लिए अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा, विद्वेष की अग्नि और प्रतिशोध की भावना को नारी-मुक्ति का पर्यायवाची मान लिया गया है। इसलिए भारत को स्त्री-शक्ति के मौलिक और सात्विक स्वरूप को पहचान कर एक नवीन सांस्कृतिक क्रांति को शक्ति प्रदान करना है।

भौतिकवाद के चक्रवात में पड़ कर नारी पहले से अधिक पराधीन बनेगी। आज का प्रचलित सांप्रदायिक-धर्म, राजनीति और समान-धर्म पुरुष-सत्तात्मक संस्कृति का प्रतीक है, जहां स्त्री-शक्ति पुरुष-शक्ति के सामने दलित और दमित जैसी दिखती है। विष्णु के साथ लक्ष्मी, शिव के साथ पार्वती, राम के साथ सीता का स्थान पूजनीय होते हुए भी अपेक्षाकृत कुछ हीन ही है। भले ही दास-दासी का संबंध न हो। भले ही भगवान बुद्ध ने सुजाता के हाथों की खीर खाई हो, पर बुद्ध भी संघ में नारी को प्रवेश देने का साहस नहीं कर सके। भगवान महावीर ने भले ही स्त्री-शक्ति को समान आदर दिया हो, लेकिन जैन परंपरा के चौबीस तीर्थंकरों में—एक विवादास्पद मामले को छोड़ कर—सभी पुरुष ही तीर्थंकर बने। ईसाई परंपरा में हम धर्मपुरोहित पोप की परंपरा में आज तक कोई स्त्री धर्मदंड लेकर उस स्थान पर नहीं जा सकी। इस्लाम की व्यवस्था में नारी को संपत्ति के मामले में भले ही समानता का अधिकार हो, लेकिन धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में उनका स्थान दोयम ही है।

भारत इसी विश्व में खड़ा रह कर स्त्री-पुरुष की समता को स्थापित करने के लिए आज प्रयत्नशील है, लेकिन जब तक इसकी दिशा पाश्चात्य-भौतिकवादी जीवन पद्धति से अलग होकर परिवार की पवित्रता, त्याग, दांपत्य और सहयोगमय तथा आध्यात्मिक जीवन पद्धति का निर्माण नहीं कर सकेगा, तो वह न परिवार को बचा सकेगा और न ही संस्कृति का अभिरक्षण कर सकेगा।

परिवार की सुरक्षा की गारंटी आदर्शमय विवाह-पद्धति पर निर्भर है। विवाह का पवित्र उद्देश्य परस्पर जीवन को मुक्ति-पथ पर ले जाने की साधना है। इसके साथ सृष्टि को चलाने के लिए संतान की उत्पत्ति और पालन-पोषण उसका धर्म है और साथ-साथ समाज की निःस्वार्थ सेवा भी इसका उद्देश्य है। जिसमें प्रकृति जड़ और पुरुष चेतना रहता है। यहां तो नर और नारी, दोनों चेतन-तत्त्व हैं। इसीलिए मानव की सच्ची स्वतंत्रता ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या में ही है। ❖

नैतिकता धर्म से पृथक नहीं हो सकती, क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न ही नहीं होती, बल्कि धर्म में ही उसका समावेश होता है। प्रत्येक धर्म इस प्रश्न का उत्तर देता है—'मेरे जीवन का क्या लक्ष्य है?'—धर्म इस प्रश्न का जो उत्तर देता है, उसमें कुछ नैतिक आदेशों का समावेश होता है, जो जीवन के लक्ष्य का स्पष्टीकरण करते हैं।

—लियो टॉल्सटॉय

सूत्रकार ने तीन गुप्तियों का सुंदर विश्लेषण किया है। मनोगुप्ति से एकाग्रता, वचन-गुप्ति से निर्विचारता और काय-गुप्ति से स्थिरता निष्पन्न होती है। इनका अभ्यास आत्म कल्याण की भावना से हो, अध्यात्म की भावना से हो। इसी दृष्टि से पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने अभिनव सामायिक का प्रयोग शुरू कराया था। वह बड़ा सुंदर प्रयोग है। उसमें एक उपक्रम है—त्रिगुप्ति की साधना। शरीर को स्थिर रखना, वाणी से मौन करना, मन से कोई विचार न करना। इन तीनों को एक साथ करने से युगपत त्रिगुप्ति की साधना हो सकती है। काय-गुप्ति की साधना साधक को कल्याण-पथ की ओर ले जाने वाली सिद्ध हो सकती है।

उपादेय है त्रिगुप्ति, वाणी-संयम और भाषालब्धि

आचार्यश्री महाश्रमण

प्रश्न किया गया—**'कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ**—भंते! काय-गुप्तता से जीव क्या प्राप्त करता है?'—उत्तर दिया गया—**'कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ**—काय-गुप्तता से जीव संवर को निष्पन्न करता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला पाप-आश्रवों का निरोध कर देता है।'

तीन गुप्तियों में तीसरी गुप्ति है काय-गुप्ति। हमारे शरीर में चंचलता रहती है। पूरा तंत्र अपने ढंग से काम करता है। पाचन तंत्र अपना काम करता है, हृदय अपना काम करता है। इस प्रकार अनेक तंत्र अपना काम करते हैं। शरीर के भीतर क्रियाएं चलती रहती हैं। हमें कई बार इनका पता तक नहीं चल पाता। हम अपने काम में संलग्न रहते हैं और भीतर कार्य होता रहता है। ये स्व-संचालित क्रियाएं हैं।

काय-गुप्ति के दो प्रयोग हैं—1. अकुशल कार्य का निरोध करना। शरीर से अशुभ प्रवृत्ति न करना। 2. शरीर को स्थिर करना। हलन-चलन न करना।

आदमी काय-गुप्ति का अभ्यास जितना संभव हो—पांच मिनट, दस मिनट या उससे अधिक समय तक करे। अपने शरीर को स्थिर रखे, किसी प्रकार की चंचलता न करे। यद्यपि आवश्यकता होने पर तो शारीरिक क्रियाएं करनी ही पड़ेगी, किंतु अनावश्यक हलन-चलन न करे। कई बार आदमी बिना मतलब ही हाथ, पैर आदि हिलाता रहता है। पर, जब अनुष्ठान, प्रार्थना, जप आदि करे—तब यथासंभव शरीर की प्रवृत्ति न हो, स्थिरता बनी रहे। कायिक स्थिरता के अभ्यास से अयोग की ओर प्रस्थान हो सकेगा।

आदमी का मन बहुत चंचल है। मन की चंचलता साधना में अवरोध पैदा करती है। जब व्यक्ति ध्यान, जप आदि करता है, तो मानसिक चपलता के कारण सम्यक् नहीं कर सकता। जो व्यक्ति खाली बैठा रहता है—न

अध्ययन करता है और न स्वाध्याय करता है, उसके मन में चंचलता की संभावना अधिक रहती है। इसलिए कभी भी खाली बैठे न रह कर जप, ध्यान, तत्त्व-चर्चा, स्वाध्याय, व्याख्यान-श्रवण आदि उपक्रम चलते रहने चाहिए। हम अनुभव करते हैं कि कितने ही विचार हमारे दिमाग में आते रहते हैं। हम चलते रहते हैं, तब भी मन में विचार आ जाते हैं। बोलते समय भी विचार आ सकते हैं। भोजन के समय, रात को लेटते समय और शौच क्रिया के दौरान भी विचार आ जाते हैं। विचार हमें चलाते रहते हैं और हम चलते रहते हैं। मनोगुप्ति का अभ्यास करने वाला व्यक्ति इन सब पर संयम कर लेता है।

चिंतन करना अच्छा है, किंतु संयम रखें, विवेक रखें। यदि विवेक और संयम है, तो जीवन की गाड़ी ठीक चल सकेगी। मन, वाणी और शरीर के संयम से हम अपनी आत्मा को पाप कर्मों से बचा सकते हैं और साधना की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं और व्यवहार में भी निपुणता आ सकती है।

आर्षवाणी में ठीक कहा गया कि योग प्रत्याख्यान करने से अयोगता प्राप्त हो जाती है। जब पूर्णतया अयोगता प्राप्त हो जाती है, तब कर्मों का बंध नहीं होता और पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

प्रेक्षाध्यान की साधना में काय-गुप्ति का प्रयोग कराया जाता है। हम दिन भर में कितनी ही प्रवृत्तियां करते हैं। इनके बीच कुछ देर के लिए विश्राम के रूप में काय-गुप्ति का प्रयोग एक सुंदर प्रयोग है। जब कायोत्सर्ग करते हैं, तो उसमें काय-गुप्ति सहज ही हो जाती है। तपस्या में भी काय-गुप्ति हो जाती है। खान-पान न करना भी काय-गुप्ति है। हम शरीर से जो प्रवृत्तियां करते हैं, उनमें मुख्यतया तीन प्रवृत्तियां होती हैं—

1. **गमन संबंधी प्रवृत्ति**—घूमना-फिरना या चलना। यह गमन-रूप प्रवृत्ति है।
2. **भोजन संबंधी प्रवृत्ति**—खाना-पीना या भोजन बनाने संबंधी प्रवृत्ति करना।
3. **हाथ संबंधी प्रवृत्ति**—हाथ से किए जाने वाले कार्य या प्रवृत्ति।

इनके अतिरिक्त भी कुछ छोटी-मोटी प्रवृत्तियां हो सकती हैं। शरीर की इन प्रवृत्तियों पर ध्यान देना चाहिए। गमन में संयम, खान-पान में संयम और हाथ से की जाने वाली क्रिया में भी संयम रहे, तो काय-गुप्ति सिद्ध हो सकती है।

हम चलते हैं, घूमते हैं। स्वास्थ्य के लिए भी घूमना आवश्यक है। मेरा मानना है कि शरीर बीमार है या स्वस्थ है—प्रतिदिन प्रातःकाल पैंतालीस मिनट भ्रमण हो जाए तो बेहतर है। इस भ्रमण में यदि हरियाली या पेड़ों का योग मिल जाए और उसके आसपास भ्रमण किया जाए, तो अच्छी मात्रा में 'ऑक्सीजन' मिलेगी। अलबत्ता हरियाली के ऊपर चलने से बचना चाहिए, ताकि हरियाली में विद्यमान जीवों की हिंसा न हो। चलते समय नीचे देख-देख कर भी चलना चाहिए। साधु के लिए तो 'ईर्या-समिति' का विधान ही है, पर गृहस्थ भी नीचे देख कर चले, तो हिंसा से बच सकता है। अगर हमारे गमन में 'ईर्या-समिति' का योग है, तो जो जीव पैर के नीचे आकर मर सकते थे, उन जीवों की हिंसा से हमारा बचाव हो जाएगा। काय-गुप्ति में आवश्यक गमन रोकने की बात नहीं है। हां! अनावश्यक क्रिया को रोकें, अकुशल और अशुभ रूप में होने वाली क्रिया को रोकें। इसी तरह चलते समय दीर्घश्वास का प्रयोग भी किया जाए तो शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बेहतर रहेगा।

इसी प्रकार खान-पान में संयम की बात है। हम अति मात्रा में न खाएं। हमारा खाने में संयम है या नहीं, ऊनोदरी का अभ्यास है या नहीं—यह देखना चाहिए। ऊनोदरी करने से काय-गुप्ति का प्रयोग स्वतः हो जाता है। यदि मन के अनुकूल भोजन मिल गया और खूब खुश हो कर, उसकी प्रशंसा करते-करते खा रहे हैं, अथवा मन के प्रतिकूल भोजन मिल गया और उसकी निंदा करते-करते खा रहे हैं—तो यह हमारा असंयम है। हम भोजन करते समय समता रखें। जैसा मिल गया उसी में समभाव रखें, राग-द्वेष न करें। भोजन करते समय हमारा ध्यान अन्य बातों में न जाए, मात्र खाने में ही केंद्रित रहे—यह भी हमारी एक साधना ही है।

आदमी हाथ से कितने ही काम करता है। हाथ से लेखन भी होता है, हाथ से वस्त्र-प्रक्षालन भी किया जाता है और हाथ से किसी को मारा-पीटा भी जा सकता है।

हाथ से किसी की सेवा भी की जा सकती है। हाथों से अनेक काम किए जा सकते हैं। हम हाथों का भी संयम रखें। हम इस बात के प्रति जागरूक रहें कि हमारे हाथों से अकुशल प्रवृत्ति न हो जाए। प्रवृत्ति करें, पर कुशल प्रवृत्ति करें, शुभ प्रवृत्ति करें। हम अपने हाथों से किसी को तकलीफ न दें। हम रास्ते में चलते हैं। कोई जानवर एक तरफ शांति से बैठा है। हम उसकी शांति में बाधा उत्पन्न करने का प्रयास न करें। बिना मतलब उसको न छेड़ें, उसे लाठी आदि दिखा कर अनावश्यक भय पैदा न करें। हमारे द्वारा किसी को कष्ट हो, अनावश्यक हिंसा हो—ऐसी प्रवृत्ति से साधक को बचना चाहिए। इस प्रकार काय-गुप्ति के साधक गमन का संयम करें, खान-पान में संयम रखें, हाथ की क्रिया का संयम करें।

हमारी साधना में 'गुप्ति' की साधना का बड़ा महत्त्व है। ज्यों-ज्यों 'गुप्ति' की साधना पुष्ट होती है, त्यों-त्यों संयम की साधना निर्मल बनती है, मजबूत बनती है। 'आर्षवाणी' में ठीक कहा गया कि काय-गुप्ति से संवर निष्पन्न होता है और पापाश्रवों का निरोध हो जाता है। प्रश्न हो सकता है कि संवर निष्पन्न कैसे होता है? काय-गुप्ति—यानी कायिक अकुशल प्रवृत्ति को छोड़ना। कायिक अकुशल प्रवृत्ति से जो पापकर्म का बंध हो सकता था, उसका हमने निरोध कर दिया—इसलिए वह संवर हो गया और यह संवर होने से हम 'काय-गुप्त' बन जाते हैं, पाप-आश्रवों के निरोध में सक्षम बन जाते हैं। पापाश्रव-निरोध यानी अकुशल काय-प्रवृत्ति से जो आश्रवण होता या जो पापकर्म बंधन बनता, उसको अथवा उस मार्ग को रोक देना पापाश्रव-निरोध है।

सूत्रकार ने तीन गुप्तियों का सुंदर विश्लेषण किया है। मनोगुप्ति से एकाग्रता, वचन-गुप्ति से निर्विचारता और काय-गुप्ति से स्थिरता निष्पन्न होती है। इनका अभ्यास आत्म कल्याण की भावना से हो, अध्यात्म की भावना से हो। इसी दृष्टि से पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने अभिनव सामायिक का प्रयोग शुरू कराया था। वह बड़ा सुंदर प्रयोग है। उसमें एक उपक्रम है—त्रिगुप्ति की साधना। शरीर को स्थिर रखना, वाणी से मौन करना, मन से कोई विचार न करना। इन तीनों को एक साथ करने से युगपत त्रिगुप्ति की साधना हो सकती है। काय-गुप्ति की साधना साधक को कल्याण-पथ की ओर ले जाने वाली सिद्ध हो सकती है।

इसी क्रम में 'भाषा-लब्धि' को सम्मुख रखा जा सकता है। जैन मत में इसे 'वाग्-गुप्तता' कहा जाता है। 'काय-गुप्ति' की ही तरह 'वाग्-गुप्ति' के प्रति भी एक साधक को सचेत रहने की जरूरत है। इसी संदर्भ में प्रश्न किया गया है—**'वइगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ**—भंते! वचन-गुप्तता से जीव क्या निष्पन्न करता है?' उत्तर दिया गया—**'वइगुत्तयाए णं निविवयारं जणयइ। निव्वियारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ**—वाग्-गुप्तता से वह निर्विचार भाव को प्राप्त होता है। निर्विचार जीव सर्वथा वाग्-गुप्त और अध्यात्म-योग के साधन—चित्त की एकाग्रता आदि से युक्त हो जाता है।'

दुनिया में अनंत प्राणी ऐसे हैं, जो बोल नहीं सकते, पर आदमी के पास भाषा-लब्धि होती है। स्थावर जीव—पृथ्वी, पानी आदि जीवों को भाषा प्राप्त नहीं होती है। उनसे थोड़े विकसित जीव हैं—द्विंद्रिय, त्रिंद्रिय, चतुरिंद्रिय—लट, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों में कुछ आवाज होती है, किंतु प्रायः अस्पष्ट आवाज होती है। पशुओं की भी अपनी आवाज होती है। उनकी आवाज के अर्थ को कोई-कोई ही पकड़ सकते हैं। मनुष्य की भाषा को भी सारे मनुष्य नहीं जान पाते। संपूर्ण विश्व में कितनी ही भाषाएं हैं, पर आदमी उनमें से कतिपय भाषाओं को ही समझ पाता है और सीमित भाषाओं को ही बोल सकता है।

मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि मुझे एक भाषा प्राप्त है, मैं बोल सकता हूं—तो मैं अपनी वाणी का दुरुपयोग नहीं करूं। कितने पुण्य के योग से मनुष्य को वाणी मिली है, तो उसका पाप में प्रयोग नहीं हो, हिंसा में प्रयोग नहीं हो, किसी का बुरा हो—ऐसी बात कहने में अपनी भाषा का प्रयोग नहीं हो।

भाषा विचार संप्रेषण का सशक्त माध्यम है। हम अपने विचारों को भाषा के माध्यम से ही दूसरों तक पहुंचाते हैं। संकेतों से कुछ विचार-विनिमय हो सकता है, परंतु सशक्त माध्यम भाषा ही है। भाषा को वाणी के द्वारा

अभिव्यक्त किया जाता है और लेखन के माध्यम से भी अभिव्यक्त किया जाता है, पर दृष्टि यह होनी चाहिए कि हमारी भाषा कलात्मक बने। हम वाक्-निपुण बनें और साथ ही वाक्-संयमी भी बनें। हमारी परंपरा में मौन का भी प्रयोग चलता है। अनेक लोग मौन करते हैं। यह भी वाणी-संयम का प्रयोग है। अनावश्यक न बोलना भी एक प्रकार का मौन है, पर मौन नींद में नहीं करना चाहिए। मौन जागते हुए ही करना चाहिए। नींद का मौन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जितना जागृत अवस्था का मौन होता है।

संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**गरौ गिरः पल्लवनार्थलाघवे**—वाणी के दो दोष बताए गए हैं। पहला दोष है कि बात को बढ़ा-चढ़ा कर बताना। जो बात संक्षेप में कही जा सकती है, उसे खूब विस्तार से बताना। यह वाणी का पहला दोष है। दूसरा दोष है—निस्सार बात बोला। बहुत बोले, लेकिन बात में सार कुछ भी नहीं निकला। बात को अनावश्यक कहना भी वाणी का विष है। ठीक इसके विपरीत परिमित बोलना और सारपूर्ण बोलना, ये वाणी के गुण हैं। आदमी वाणी के दोषों का परित्याग करे और वाणी के गुणों को अंगीकार करे। आदमी यह सोचे कि मैं अमुक बात को कितने कम शब्दों में कह सकता हूं। जो बात पांच वाक्यों में कही जाने वाली है, क्या मैं उस बात को तीन वाक्यों में कह सकता हूं कि सुनने वाले का समय बेकार न जाए और मुझे भी बिना मतलब बोलने का श्रम न करना पड़े।

आदमी को अपनी वाणी से सत्य बात ही कहनी चाहिए। जिस बात का पूरा पता न हो, पूरी जानकारी न हो—उस बात को नहीं कहनी चाहिए। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका विश्वास भी बढ़ता है। गृहस्थ जीवन में सचाई का पूर्ण पालन करना सबके लिए संभव न भी हो, किंतु एक साधु के लिए तो सत्य भाषा का प्रयोग करना आसान है। अलबत्ता, अगर आदमी का दृढ़ संकल्प हो तो काफी अंशों में गार्हस्थ्य में भी झूठ से बचा जा सकता है। कुछ कठिनाइयां आएं तो आएं। जीवन में कुछ कठिनाइयों को झेलना भी चाहिए। अच्छी बात के लिए, कुछ विशेष पाने के लिए कुछ कठिनाइयों को झेलने का उत्साह होना चाहिए। सचाई भी एक बड़ी संपत्ति है। आदमी पैसे की संपत्ति के लिए सचाई की संपत्ति को बिल्कुल छोड़ दे, तो इसका मतलब यह होगा कि एक छोटी संपत्ति पाने के लिए बड़ी संपत्ति को छोड़ दिया। इसे मन की दुर्बलता कहा जा सकता है। आदमी बोलने से पहले सोचे, विचार करे। फिर वाणी का प्रयोग करे। सोच-विचार करके ही कोई बात प्रस्तुत करनी चाहिए। हिताहित का पहले विवेचन कर लेना चाहिए।

वाणी-संयम से निर्विचारता निष्पन्न होती है। बेकार की बातों से विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। अतः वाणी का जितना संयम होगा हम उतना ही समस्याओं से बच जाएंगे और विकार को पैदा करने की एक स्थिति का निरोध भी कर सकेंगे। जो लोग ध्यान की साधना करते हैं, उन्हें मौन और वाणी-संयम का भी अभ्यास करना चाहिए। वाणी-संयम नहीं है, तो ध्यान की साधना में भी कुछ बाधा उत्पन्न हो सकती है। हम जितना कम बोलेंगे, उतना ही शांति और निर्विचारता की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे और चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर सकेंगे।

इस प्रकार त्रिगुप्ति की साधना, वाणी-संयम और भाषालब्धि एक साधक को उसकी साधना में रत रहने और कल्याण पथ की ओर ले जाने में सहायक होती है, वहीं एक सामान्य नागरिक के लिए भी इनकी उपादेयता सर्वमान्य कही जा सकती है। ❖

धर्म हमारे यहां नैतिक-आध्यात्मिक शक्ति के रूप में सब जगह स्वीकार्य है। पहले धर्म की यह स्थिति बनी या जाति की, कहा नहीं जा सकता। लेकिन, सब धर्मों की तरह धर्म यहां संगठित नहीं हो सका—तो शायद इसलिए कि जाति ही सामाजिक संगठन में लगी हुई थी और संप्रदाय जाति को तोड़ नहीं पाए। ..... इस्लाम और ईसाइयत में जाति का कोई स्वीकार भले न हो और सब समान रूप से इंसान माने जाते हों, लेकिन भारत में उनके समाजों में जातिगत भेदभाव वही है, जो उनमें आने वाले लोगों में पहले से था।

—प्रभाष जोशी

किसी की प्रगति देख कर यदि कोई ईर्ष्या या द्वेष करना शुरू कर दे, तो वह स्वयं के लिए ही हानिकारक है। क्योंकि ईर्ष्याभाव से व्यक्ति अंदर ही अंदर जलने लगता है। कभी-कभी घुटन भी पैदा हो जाती है। फिर दिमाग भी तनाव से भर जाता है। अंततः वह व्यक्ति तन, मन और स्वभाव से अस्वस्थ व कमजोर होने लगता है। हम किसी की 'पुण्याई' न तो बढ़ा सकते हैं, न ही घटा सकते हैं। फिर एक समझदार इंसान बेमतलब ही तनाव क्यों पैदा करे? अतः उसे—'पत्तेयं पुण्णपावं'—के सिद्धांत को समझ लेना चाहिए। जिसकी जितनी 'पुण्याई' है, वह उसे आराम से भोगेगा। उस समय हमारी प्रमोद भावना उसके प्रति बनी रहे। तभी हमारी 'पुण्याई' में भी बढ़ोतरी होगी। तब हमारा जीवन भी सुखी हो जाएगा।

सुख-दुख : स्वकृत ; परकृत नहीं

समणी विपुलप्रज्ञा

यह दुनिया एक रंगमंच है। हर एक इंसान यहां अपने-अपने कर्मों के अनुसार अभिनय करता है। इस विचित्र दुनिया में कोई सुखी, कोई दुखी, कोई विद्वान, कोई मूर्ख, कोई सुंदर, कोई असुंदर, कोई धनवान और कोई निर्धन है। आखिर इतनी विभिन्नताएं क्यों हैं?

कोई व्यक्ति अनैतिक आचरण करके भी जिंदगी के मजे लूटता है और कोई धार्मिक आचरण करके भी दुखमय व रोगाक्रांत जीवन जीता है। कोई व्यक्ति काम कम, आराम ज्यादा करके भी परिवार और समाज में पर्याप्त यश-प्रशंसा पाता है और किसी को अधिक श्रम करके भी यश नहीं मिलता। उलटा उसे कुछ न कुछ 'नकारात्मक' ही सुनने को मिलता है। इस प्रकार की कई समस्याओं से इंसान घिरा रहता है। परिणामतः कई लोग तनावग्रस्त हो जाते हैं और उनकी जिंदगी नीरस बन जाती है। आपसी संबंधों में मिठाश की जगह कड़वापन, खट्टापन घुलने लगता है। इन हालातों में सवाल यह उठता है कि क्या ऐसा कोई प्रेरकसूत्र है कि जो इंसान की जिंदगी को खुशनुमा बना दे, उसकी सोच को बदल दे?

प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना पुण्य-पाप होता है—**'पत्तेयं पुण्णपावं'**—भगवान महावीर ने दसवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका में इस प्रेरकसूत्र का उल्लेख किया है। वीतराग भगवान ने अपने ज्ञान से जो कहा वह सच है। भगवान की वाणी में कहीं पर भी संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। यदि हमें सुखी जीवन जीना है, तो इस सचाई को हमें समझ लेना चाहिए। अतः यह जरूरी है कि प्रत्येक इंसान अपने मस्तिष्क रूपी 'कंप्यूटर' में **'पत्तेयं पुण्णपावं'**—को उचित स्थान दे।

सुखी जीवन का रहस्य

व्यक्ति का सुख-दुख स्वकृत है, परकृत नहीं। माना

गया है कि पुण्य से सुख और पाप से दुख मिलता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।।

अर्थात्—आत्मा ही सुख, दुख की कर्ता व विकर्ता है। सत्प्रवृत्त आत्मा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा शत्रु है। सभी भारतीय दर्शनों ने प्रायः इसी कर्म सिद्धांत को माना है—जैसी करनी, वैसी भरनी।

कर्म-सिद्धांत को समझने वाला व्यक्ति अपने दिल और दिमाग को भी बड़ा रखता है। जिसका दिल-दिमाग बड़ा होता है, उसकी सोच भी बड़ी होती है। विधेयात्मक चिंतन वाले लोग निस्संदेह सुखी जीवन जीते हैं। उदाहरण के लिए हम एक परिवार में देराणी-जेठाणी को सम्मुख रख कर विचार करते हैं। यह कि—जेठाणी को सब तरफ से यश-प्रशंसा मिलती है, यद्यपि जेठाणी कम व्यावहारिक है और काम भी कम ही करती है। दूसरी ओर देराणी तुलना में अधिक व्यवहार कुशल है और काम भी अधिक करती है। फिर भी उसे यश नहीं है। ऐसी स्थिति में **'पत्तेयं पुण्णपावं'** के सिद्धांत को समझने वाली देराणी का यही चिंतन रहता है कि मेरी जेठाणी के पुण्य का पलड़ा अभी भारी है, अभी उनके 'शुभनाम-कर्म' का प्रबल उदय है। इसलिए उनकी सब तारीफ करते हैं और मेरे 'अशुभनाम कर्म' का उदय होने से मुझे यश नहीं, अपितु अपयश ही मिलता है। खैर! ये दिन भी बीत जाएंगे। इस प्रकार की विचारधारा ने देराणी के भीतर प्रमोद-भावना भर दी और उसको किसी प्रकार का संताप या निराशा भाव नहीं आता है। ऐसी भावना से कोई भी व्यक्ति दुख से कभी पीड़ित नहीं होता है। इसके विपरीत किसी की प्रगति देख कर यदि कोई ईर्ष्या या द्वेष करना शुरू कर दे, तो वह स्वयं के लिए ही हानिकारक है। क्योंकि ईर्ष्याभाव से व्यक्ति अंदर ही अंदर जलने लगता है। कभी-कभी घुटन भी पैदा हो जाती है। फिर दिमाग भी तनाव से भर जाता है। अंततः वह व्यक्ति तन, मन और स्वभाव से अस्वस्थ व कमजोर होने लगता है।

हम किसी की 'पुण्याई' न तो बढ़ा सकते हैं, न ही घटा सकते हैं। फिर एक समझदार इंसान बेमतलब ही तनाव क्यों पैदा करे? अतः उसे—**'पत्तेयं पुण्णपावं'**—के सिद्धांत को समझ लेना चाहिए। जिसकी जितनी 'पुण्याई' है, वह उसे आराम से भोगेगा। उस समय हमारी प्रमोद भावना उसके प्रति बनी रहे। तभी हमारी 'पुण्याई' में भी बढ़ोतरी होगी। तब हमारा जीवन भी सुखी हो जाएगा।

पुण्य-पाप का खेल

यह खेल बड़ा निराला है। इस खेल में इंसान कभी 'पाजी का काजी' और कभी 'काजी का पाजी' बन जाता है। पुण्य-पाप का खेल इंसान की सोच पर भी निर्भर करता है। यदि व्यक्ति का चिंतन विधेयात्मक है, तो सम्यक् सोच के साथ-साथ पुण्य का बंध कर लेता है। यदि उसका सोच नकारात्मक है, तो असम्यक् सोच के साथ-साथ पाप का बंध कर लेता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—जितने भी नकारात्मक चिंतन हैं, वे सब पाप की श्रेणी में आते हैं। जाहिर है कि इंसान को संसार में जो भी सुख-सुविधाएं प्राप्त होती हैं, वह सब 'पुण्याई का खेल' है। दूसरी तरफ जो अभावग्रस्त जीवन जीते हैं, दुख-दुविधा में रहते हैं—यह पाप का खेल है।

लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म

जैन परंपरा में एक मान्यता रही है कि अमुक कार्यों में 'धर्म' होता है और अमुक-अमुक कार्यों में धर्म नहीं होता—कोरा 'पुण्य' होता है। व्यवहार जगत में भी यह स्वर सुनने में आता है कि अमुक 'गरीब' को खिलाने से पुण्य होता है। पर, आचार्यश्री भिक्षु ने धर्म को दो भागों में विभाजित करते हुए कहा कि पुण्य का स्वतंत्र बंध नहीं होता है, कोरा पुण्य नहीं होता। पुण्य का बंध 'लोकोत्तर धर्म' के साथ होता है। जिस धार्मिक क्रिया से आत्मा से अशुभ कर्म अलग होते हैं, उस निर्जरा धर्म के साथ पुण्य का बंध होता है। दूसरी बात—गरीबों को खिलाना, अनाथालय, अस्पताल इत्यादि के कार्यों में पुण्य का बंध नहीं होता। क्योंकि यह लौकिक धर्म है, लोकोत्तर धर्म नहीं। पुण्य का बंध वहीं होता है, जहां धर्म की प्रवृत्ति होती है। पर, जब धर्म की पूर्णता प्राप्त होती है—तब पुण्य का बंध भी रुक जाता है। बंधन रुकने के पश्चात् ही मुक्ति होती है।

पुण्य किसे कहते हैं?

शुभकर्म का उदय पुण्य है। पहले बंधे हुए शुभकर्म जब शुभ फल देते हैं, तब वे पुण्य कहलाते हैं। पुण्य शुभ-कर्ममय पुद्गल हैं। पुण्य नौ हैं—(1) अन्नपुण्य, (2) पानपुण्य,

(3) लयनपुण्य, (4) शयनपुण्य, (5) वस्त्रपुण्य, *(6) मनपुण्य, (7) वचनपुण्य, (8) कायपुण्य और* (9) नमस्कार पुण्य। उपरोक्त नौ भेद वास्तव में पुण्य तत्त्व के नहीं हैं, अपितु पुण्य के निमित्त कारण हैं।

स्वतंत्र नहीं पुण्य की खेती

आचार्यश्री भिक्षु ने पुण्य के संदर्भ में स्पष्ट कहा है कि पुण्य का स्वतंत्र बंध नहीं होता। उन्होंने उदाहरण से स्पष्ट किया कि जैसे गेहूं के साथ भूसा होता है, पर भूसे के लिए गेहूं नहीं बोया जाता। वैसे ही पुण्य के लिए धर्म नहीं किया जाता है, निर्जरा-धर्म के साथ-साथ वह अपने आप ही आता है। स्पष्ट है पुण्य की खेती स्वतंत्र नहीं होती है।

पुण्य-पाप

धार्मिक क्रिया के साथ होने वाले शुभ कर्म-बंध को पुण्य कहते हैं। पाप अशुभ कर्म का उदय है। पहले बंधा हुआ अशुभ कर्म उदय में आकर जब अशुभ फल देता है, तब वह पाप कहलाता है। पुण्य शुभयोग के द्वारा आत्मा के चिपकने वाले शुभ कर्म-पुद्गल हैं और पाप आत्मा के चिपकने वाले अशुभ कर्म-पुद्गल हैं। जब तक आत्मा में मन, वाणी और काया की चंचलता होती है, तब तक शुभ-अशुभ परमाणु उसके चिपकते रहते हैं।

पुण्य-पाप क्रमशः सोने और लोहे की बेड़ी के समान हैं। बेड़ी, आखिर बेड़ी होती है। फिर वह लोहे की हो या सोने की। वह बांधने का काम ही करती है। इसलिए पुण्य को भी मुक्ति का बाधक-तत्त्व माना गया है।

पुण्य और धर्म : एक या दो

पुण्य और धर्म दो हैं। पुण्य और धर्म—दोनों तत्त्व विजातीय हैं। धर्म आत्मा की सत्प्रवृत्ति है और पुण्य शुभ कर्म-पुद्गल है। धर्म आत्मा का उज्ज्वल परिणाम है और पुण्य भौतिक सुख का कारण है। धर्म आत्मा का पर्याय है और पुण्य शुभ कर्ममय पुद्गल है। साधारण भाषा में यह कहा जा सकता है कि धर्म और पुण्य—इन दोनों शब्दों का अर्थ एक करने पर भी तात्त्विक दृष्टि से धर्म और पुण्य में आकाश-पाताल का अंतर है।

पुण्य हेय क्यों है

पुण्य शुभ कर्म पुद्गल है, आत्मा को बांधने वाला है—इसलिए हेय है, छोड़ने योग्य है। योगींदु ने 'परमात्य प्रकाश' में कहा कि—

पुण्णेण होई विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ।।

अर्थात् पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि का नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है। इसलिए हमें वह (पुण्य) नहीं चाहिए। कुंदकुंदाचार्य ने—'शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त को पुण्य बंध का हेतु होने के कारण विष कहा है'—*(समयसार, 30)*। आचार्यश्री भिक्षु ने नवपदार्थ चौपाई, 72 में लिखा है कि—'पुण्य हेय है, क्योंकि उसकी इच्छा करने से पाप का बंध होता है।'—दसवैकालिक सूत्र 9/4 में कहा गया है कि—'साधक इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म न करे, केवल आत्मशुद्धि के लिए धर्म करे।'—भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि—'पुण्य-पाप के क्षय से ही मुक्ति मिलती है। अतः पुण्य आत्मा के लिए काम्य नहीं है।'—योगींदु के शब्दों में—'वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुख परंपरा की ओर ढकेल दें।'—वेदांत के आचार्यों ने भी इस बात का समर्थन किया है—**मोक्षार्थी न प्रवर्तते तत्र काम्य निषिद्धयो**—अर्थात् मोक्षार्थी को काम्य व निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। पुण्य संसार-भ्रमण का हेतु है, इसलिए हेय है। गीता भी यही कहती है—**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते**—बुद्धिमान सुकृत व दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है।

नवपदार्थ चौपाई, 60 में आचार्यश्री भिक्षु ने पुण्य की हेयता के बारे में समझाया है—

जिण पुण्य तणी बांछा करी, तिण वांच्छ्या काम ने भोग।
संसार बधै कामयोग स्यूं, पामै जन्म मरण ने सोग।।

पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है। जाहिर है कि इंसान को पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, अपितु कर्म काटने के लिए निर्जरा-धर्म की साधना करनी चाहिए।

पुण्यशाली के पग-पग पर निधान

इस संसार में प्रसिद्ध उक्ति है—**पुनवान के पग-पग पर निधान** है। पुण्यशाली जीव का गांव, नगर, परिवार, समाज पर भी अचूक प्रभाव पड़ता है। एक प्रसंग का स्मरण

शेष पृष्ठ 58 पर

दो अंकों में समाप्य
कहानी की अंतिम कड़ी

देखते-देखते ही वह नहा आया था। मेरे सामने ही वह अपनी छाती पर से, पेट पर से, अपनी बांहों पर से हाथों से समेट-समेट कर पानी निचोड़ कर नीचे की ओर छिड़क रहा था। फिर नहाने से पहले उतारे हुए कुरते से ही शरीर पोंछ डाला। इसके बाद एक कोने में लटके हुए खादी के पुराने-धुराने कुरते को शरीर पर पहन लिया। यह कुरता बड़े भैय्या ने, पुराना हो जाने पर इसे दे दिया था। मुझे हंसी आ रही थी। कांग्रेसी बड़े भैय्या का लंबा-चौड़ा कुरता, उसे पहन कर शंकर बिल्कुल 'बिजूका' जैसा लग रहा था। ठीक भी है 'बिजूका' भी तो शंकर की तरह वफादारी से खेतों की रखवाली करता है। शंकर और 'बिजूका' में क्या फर्क है?

नहान का त्यौहार

डॉ. आनंद यादव

मां ने मुझे कहा—'जा नहा ले। गुसलखाना खाली है।.....शांतू! तू जा इसे नहा दे। देर होत है, जल्दी निबटा कर तैयारी करो!'

मैंने धीरे से शांता की ओर देखा। वह भी तिरछी आंखों से मेरी तरफ देख रही थी।

मैं गुसलखाने में घुस गया। गुसलखाना क्या है, एक छोटी-मोटी कोठरी ही है। ठीक रसोईघर के सामने ही। उसके सामने से बच्चे-बड़े सभी आ-जा रहे थे। मैंने कपड़े उतारे और ओठों में हंसी दबा कर शांता के सामने पट्टे पर बैठ गया। लग रहा था कि वह कुछ गड़बड़ा रही है।

—'लगा तेल?'

—'गुसलखाने का द्वार बंद कर लें क्या? सभी लोग आते-जाते देख रहे हैं।'

मैं हंसने लगा—'अरे यह येल गांव है, गांव। कोल्हापुर नहीं है, बाथरूम बंद करके नहाने के लिए। यहां तो आदमी खुले गुसलखाने में ही नहाते हैं। यहां का रिवाज ही ऐसा है। तू यदि दरवाजा बंद कर लेगी तो दादा पर लोग कैसे हंस रहे थे, वैसे ही तेरी भी खिल्ली उड़ाई जाएगी।.....चल, तेल लगा।'

बड़े असमंजस की मनःस्थिति में उसने नारियल का तेल और उबटन एक साथ मिला लिया और अंगूठा और हथेली ऊंची उठा कर चारों उंगलियों के पोरों से पीठ पर धीरे-धीरे तेल लगाने लगी।

मैं हाऽ हाऽ कर हंसने लगा।

—'क्या हुआ है?'

—'तू मुझे तेल लगा रही है कि कोई टोटका कर रही है?'

—'मतलब?'

—'मतलब यह कि जरा अच्छी तरह लगा। पूरी हथेली से रगड़-रगड़ कर तेल लगाएगी, तो वह अंदर भिंदेगा।

वह और भी गड़बड़ा कर तेल लगाने लगी। किसी साबुन की टिकिया की तरह वह अपनी हथेली को मेरी पीठ पर आड़ी-तिरछी फिरा रही थी। उसकी धुक-धुकी

की आवाज मैं स्पष्ट सुन रहा था। उसकी आंखों में संकोच भर गया था। सामने से लोग आते-जाते देख रहे हैं और वह अपने पति के उघड़े शरीर पर हाथ फिरा रही है। इसी कल्पना से वह अधमरी हो रही थी। शहरी रहन-सहन में बड़े होने का परिणाम था—यह।

उसकी इस सहमी-सहमी मनःस्थिति में नहाते हुए मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। मैंने जब मुंह पर साबुन लगाने का कहा, तो वह और भी गड़बड़ा गई। उसे पहले तो लगा कि मैं मजाक कर रहा हूं। फिर वह अपने दोनों हाथों में साबुन के झाग उठा कर मेरे चेहरे पर ऐसे हाथ फेरने लगी, मानो मैं कोई बच्चा हूं।

अंत में मैंने ही उसे आधा दरवाजा बंद करने को कहा। उसने झट से गुसलखाने का पूरा द्वार बंद कर लिया। और, उसके साथ ही मानो उसके शरीर में जैसे शक्ति आ गई हो। उसका मन मुक्त हो गया था। अब उसका हाथ बड़ी तेजी से चलने लगा। अब तो मुझे ही लज्जा लगने लगी। पार्वती पूजा के समय शंकर की तरह मैं चुपचाप मौन बैठा रहा।.....सुगंधी से सराबोर होकर मैं गुसलखाने से बाहर आया।

हीरा जीजी और तारा जीजी ने बच्चों की संख्या के बराबर गिन कर फलाहार की थालियाँ परोस दी थीं। दोनों ही आरती के दीपों में तेल डाल कर उन्हें सजा रही थीं। बड़े भैय्या बहुत सारे बंधे रुपए ले आए थे। कुछ अठन्नियां भी थीं। वे उन्हें बच्चों में बांट रहे थे। शोर-गुल चल रहा था।

पिताजी नीचे नजर किए हुए धीरे-धीरे गुसलखाने में घुस गए। उनके पीछे-पीछे धोती और गमछा लिए मां भी अंदर चली गई। पिताजी ने तेल-उबटन कुछ भी अपने शरीर से नहीं लगाने दिया। मां ने आग्रह तो बहुत किया था, पर—

—'मोकूं नहीं चहियै ये सब।'

—'अहो, निदान रिवाज के तौर पै तो लगान देव तनिक-सा। साल भर का त्यौहार है। सगुन के तौर पै ही सही।'

—'कह दिया न! नहीं चहियै अब मोकूं ये सब।'

—'सिरफ पांच ऊंगरियां भर सगुन के तौर पै।'

—'लगाले अपना मन रखने के लैं।'

मां ने भी पांचों उंगलियों के पोरों से ही तनिक-सा उबटन उनके शरीर पर लगाया। शरीर क्या था, बस मात्र हड्डियों की माला भर रह गया था। पिताजी नहाने के लिए बैठ गए तो मां ने सगुन के तौर पर सिर्फ पांच लोटा पानी उनके शरीर पर डाला। फिर पिताजी रोज की तरह अपने ही हाथों से धीरे-धीरे नहाने लगे। हड्डियों का पिंजरा डगमग हिलता जा रहा था जैसे। पिताजी के प्राण उस जीर्ण पिंजरे में अभी भी दृढ़ता से अटके हुए थे।

मांस गले हुए हड्डियों के ढांचे में स्नान करने से क्या अनुभव आएगा? संवेदना से परे चले गए उनके शरीर को अब सिर्फ परंपरा-निर्वाह के लिए ही नहाना था। शरीर पर पानी गिर कर सिर्फ नीचे की ओर बह रहा था। पंढरपुर के विठोबा-मूर्ति को स्नान कराने की तरह सिर्फ एक विधि पूरी करनी थी। पिताजी तो अब सारी विधियों से आगे पहुंच गए थे और हम सभी अपने-अपने मजे में आसक्त देह पूजा में ही अटके हुए.....।

आरती हो गई, फलाहार भी हो गया और सारे बालक द्वार के सामने के खाली मैदान में बड़े भैय्या से पटाखे-फुलझड़ियां लेकर दौड़ गए थे। औरतें रसोईघर में अपने-अपने कामों में जुट गई थीं। बड़े भैय्या बैठक में इंतजार कर रहे लोगों के बीच जा बैठे थे। दादा नए चक की ओर चले गए। शिवाजी पुराने चक की तरफ यों ही तफरी के लिए निकल गया। बीच के भैय्या कहीं मोटर साइकिल लेकर चले गए थे। घर में मैं अकेला ही रह गया था।

मुझे भी लगा क्यों नहीं खेतों की ओर एक चक्कर लगा आऊं? मेरा मन अभी भी पुराने चक पर अटका हुआ था। वह वैसे गांव से ज्यादा दूर भी नहीं था, किंतु महीनों से मैं उधर नहीं गया था। इसलिए मैं उठ खड़ा हुआ।

बड़े भैय्या बैठक में लोगों से फलाहार का आग्रह कर रहे थे। इन लोगों ने भी भैय्या को खूब मदद की है। इन्हीं की सहायता से बड़े भैय्या ने गांव में अनेक सुधार कर दिखाए हैं। रास्ते पर लाइट लग गई है और सारे रास्ते रात में जगमग रहने लगे हैं। विकास योजना का लाभ उठा कर गांव भर में नल का पानी आ गया है। रोज कुछ न कुछ नई बात होती रहती है। गांव भर में इसीलिए बड़े भैय्या का दबदबा है। गांव के सभी खाते-पीते लोग बड़े भैय्या के आगे-पीछे घूमते हैं।

जाते-जाते मैंने उन्हें बताया—'बड़े भैय्या! मैं जरा पुराने चक पै हो आता हूं।'

—'क्यों?'

—'यों ही जरा चक्कर लगा आता हूं।'

—'अच्छा, हो आ। पर, सुन! जाते समय जरा पसारे बस्ती की तरफ से निकल जाना। शंकर रात को ही घर आ गया है। नहा कर चक पै गया है या नहीं, यह देखते जाना। अगर नहीं गया हो तो पीछे पड़ कर उसे अपने साथ ले जाना और ईख के सारे खेतों में पानी फेरने को लगा देना।'

दरवाजे के सामने बच्चों की भीड़ लगी हुई थी। पटाखों का धूम-धड़ाका चल रहा था। फुलझड़ियां उड़ाई जा रही थीं। बच्चे नाच रहे थे। खूब शोरगुल चल रहा था। सवेरे ही किसी ने इस दालान को झाड़-बुहार कर साफ कर दिया था, लेकिन अब वहां रंग-बिरंगे कागज के टुकड़ों का ढेर लग गया था। बालकों के शरीर से सुगंधित उबटन की खुशबू दरवाजे के बाहर भी महक रही थी।

मैं बालकों के बीच से निकल कर पसारे बस्ती की ओर जाने लगा। आस-पास के काले-कलूटे, नंगे-अधनंगे, अपने नाक-फेंफणे पोंछते हुए छोकरे बंदरों की तरह बालकों की दीवाली बड़े कौतुक से देख रहे थे—सांकल में बंधे हुओं की तरह। वे एक जगह पर ही खड़े-खड़े अपने-अपने मन में ही प्रसन्न हो रहे थे।

मैं आगे बढ़ गया। गांव रोज की तरह ही आज भी बासी-बासी-सा दिख रहा था। कल शाम को जंगल से चर कर आती हुई भैंसों का गोबर अभी तक रास्ते पर जगह-जगह पड़ा हुआ था। उस पर मक्खियां भिन-भिना रही थीं। दरवाजों के सामने ऊपर छप्पर डाले हुए खुले मंडप में बैल, गाय और भैंसें बंधी हुई थीं। कुछ बैठे जुगाली कर रहे थे और कुछ उठ कर सामने पड़े सूखी घास के चारे पर मुंह मार रहे थे। गोठों में गोबर-मूत की कीचड़ सनी हुई थी। उसी गंदी कीचड़ में बैठ कर औरतें धार काढ़ रही थीं। कोई-कोई गोबर ले जाकर घूरे पर डाल रही थीं। गोबर की हेल डालते ही कूड़े के ढेर पर बैठी मक्खियों की फौज की फौज एकदम भिन-भिनाकर उड़ उठती थीं। नंगे-अधनंगे बालक अपनी नाक ऊपर को सुड़क रहे थे। कुछ हाथ से पोंछ कर, उसी हाथ को अपनी फटी चड्डी से पोंछ लेते थे। कुछ बालक रस्ते के किनारे ही पाखाने के लिए बैठे थे। इसी गंदगी से भरे दगरे के ठंडे रेत में अपनी पिछली टांगों में मुंह छिपाए और सिकुड़े हुए कुत्ते अपनी ही गर्मी की ओंघ में पड़े हुए थे। आज विशेष नहान का त्यौहार है, इसका किसी को कुछ पता नहीं था।

मुझे लगा नहर का सारा पानी गांव में छोड़ दिया जाए और आज दीवाली के नहान के दिन सारे गांव को धो-पोंछ कर कम से कम साफ तो कर दिया जाए। लेकिन, गोठ और घूरे नहीं धोए जा सकते। बड़े भैय्या वर्ष भर में कम से कम पचीस-तीस गाड़ी गोबर खाद निकलवाते हैं। सुमतिलाल सेठ अपने तीनों चकों के लिए इससे भी अधिक गोबर खाद डलवाते हैं। मल्लू अण्णा चौगुले भी अपने चक में यही खाद डलवाता है। और भी अनेक लोग गोबर खाद का उपयोग करते हैं। इसी खाद पर तो ईख की फसल का दारोमदार है। पैसा भी तो इसी खाद से उगता है खेतों में, फिर यह सब कैसे धो-पोंछ कर निकाला जा सकेगा। मुझे लगा कि सारे गांव को ही एक बड़े कूड़े का घूरा बना कर जैसे खाद के लिए सड़ाने रख दिया है।

मैं पसारे बस्ती पहुंच गया। शंकर के घर। घर क्या है—तीन-तीन ब्योंर लंबी चार भींतों पर डाला हुआ एक छप्पर। इस छप्पर के नीचे की जमीन ही उसके बाप-दादों से मिली कुल जायदाद है।

द्वार पर उसकी औरत नहाने बैठी थी। कहीं से दो-चार ऊबड़-खाबड़ पत्थर के टुकड़े लाकर डाले हुए थे। उन्हीं पर बैठ कर उसका नहान चल रहा था। आधा-सा शरीर उघड़ा हुआ। कमर में एक काला-सा चिथड़ा लपेटे हुए। उसमें रुपए के आकार के चार-पांच गोल-गोल छेद हो रहे थे। गन्ने के रस के मीठे धब्बे लगने की गंध के कारण शायद चूहों ने कुतर दिए होंगे। उन छेदों से उसकी कमर और जांघों का मांसल अंग झांक रहा था। मूलतः वह गोरी थी। किंतु, अंगिया और कमर के बीच का भाग काला पड़ा हुआ था। उसी तरह गले से ऊपर और कुहनी के ऊपर से लेकर नीचे तक सारी बांहें वैसी ही काली-कलूटी हो गई थीं।

मुझे उसने देखा और अपने घुटनुओं से गर्दन सटा कर, उसने अपनी छाती की लटकती थैलियां ढक लीं। फिर टीन के डब्बे से एक बार इस कंधे पर, तो एक बार दूसरे कंधे पर पानी उंडेलने लगी। पहले ऐल्यूमीनियम का दुचका-चिपटा सा एक लोटा था—इनके पास। अब तो ऐल्यूमीनियम भी महंगा हो गया है। सो, टीन के डिब्बे को ही लोटे की जगह पर काम में ले रही थी। पानी भी कोई

खास गर्म नहीं होगा। शरीर पर गिरते थोड़ी भी भाप नहीं उठ रही थी। पानी के साथ वह हाथों से ही अपना शरीर रगड़ रही थी। न तेल, न साबुन……।

'नरक-चौदस' का दिन-साल भर का नहान पर्व।

द्वार पर ही उसका नहाना देख कर मुझे थोड़ा संकोच लगने लगा। मुझे देख कर वह भी लज्जा से गड़बड़ा गई। बल्कि, सच तो यह है कि आजकल कौन किसकी लाज-शरम करता है। सारा गांव ही ऐसा है।

पिछले पांच-छह वर्षों से मैं पढ़ने के लिए कोल्हापुर चला गया था। शरीर पर शहरी पोशाक आ गई थी। इसलिए मैं, अनजाने में ही उसके लिए पराया हो गया था। गांव के किसी मजदूर की तरह ही यदि फटे-पुराने कपड़े पहन कर आया होता तो वह नहाते-नहाते ही कह देती—'मालक, चले जाओ, अंदर। घर में ही बैठे हैं।'—और फिर एक ओर थोड़ा सरक कर उसने मुझे जाने के लिए रास्ता दे दिया होता। पर अब वह एकदम हड़बड़ा कर अंग सिकोड़ते हुए पीठ फेर कर खड़ी हो गई और शंकर को पुकार कर कहने लगी—

—'सुना का ऽ ऽ? मालक के लक्षमन भैय्या आए हयं।'

काले लक्कड़ जैसे खुले शरीर को बाहर की ओर झुकाते हुए शंकर ने झांक कर देखा।

—'आओ ना, अंदर आओ।'

मैं अपना शरीर सिकोड़ता-सा अंदर घुस गया।

अंदर अंधेरा था। गांव आई बिजली का यहां कोई पता नहीं था। चूल्हा जल रहा था। उसी का प्रकाश फैल रहा था, बस। उसके सामने एक आठ-नौ वर्ष की लड़की मुंह में जा रही लटों को पीछे की ओर संभालते हुए चूल्हे में ईंधन सरकाती जा रही थी। चूल्हे पर टीन का एक बड़ा-सा डिब्बा रखा था। पानी गरम हो रहा होगा। माटी के मटकों की दो-तीन जेटें भींत से सटाकर खड़ी हुई थीं। चूल्हे के पास भी इसी तरह की तीन जेटें थीं, जिनमें सूराख भी थे। कुछ मटके-मटकियां तिरकी हुई थीं। उनमें रखा हुआ धान, दाल और ज्वार नीचे गिरा हुआ था। सोने के लिए बिछाए हुए गूदड़ों-कथूलों के चिथड़े अभी भी ज्यों के त्यों पड़े थे। उन्हें उठा कर नहीं रखा गया था। इधर-उधर कुछ छोटी-मोटी, टूटी-फूटी चीजें पड़ी हुई थीं। बारीकी से देखने पर ध्यान में आया कि उन गूदड़ों में अभी शंकर के तीन बच्चे गुडू-मुडू होकर बेहोश-से पड़े हैं। सोते हुए भी उनके पेट पीठ से लगे हुए थे।

—'क्यों, अभी चौदस का नहान हुआ कि नहीं?'—मैंने पूछा।

—'अभी होना है। उधर फालके के बाड़े पर जब पानी आता है, तभी हमें हाथ-पैर जोड़ने पर वह मिल पाता है, वह भी इसलिए कि कभी-कभार हमारी औरत उनका काम करवा देती है—'फिरीफंड' में। नहीं तो मंदिर के सामने वाले नल पर जाना पड़ता है। वहां तो चील-कौओं की तरह आदमी टूट पड़ते हैं। अपने जैसों को कौन भरने देता है जल्दी।'—क्षण भर रुक कर उसने और भी कहा—'हमें का बड़े भैय्या ने नल थोड़े लगवा दिया है?'

उसे देर हो जाने की चिंता लग रही थी।

—'अरे देर हो रही है तो फिर आज की छुट्टी क्यों नहीं ले लेता है?'—मैंने पूछा।

—'छुट्टी कहां मिलती है हमें? छुट्टी ले लूंगा तो पेट पूजा कैसे होयगी! हमें का छुट्टी की पगार मिलती है?'—थोड़ा रुक कर उसने थोड़े उत्साह, थोड़ी हताशा से कहा—'नहाने का क्या है, अभी हो जाएगा देखते-देखते। उसका हुआ नहीं कि मेरा तो चुटकियों में हो जाता है। ठंडे पानी से ही तो नहाना है।'

—'अरे, आज त्यौहार का दिन है। दीवाली के नहान का दिन, साल भर बाद आता है—यह दिन। इसलिए कह रहा हूं।'—मैंने कहा।

—'हां आज नहाने का दिन है। इसलिए ही तो आज घर में नहाना है, नहीं तो देर करने की बात नहीं थी। बस नहान हुआ कि मैं पहुंचा चक पर। तुम चलो आगे और बड़े भैय्या पूछें तो बता देना—मैं चक पर पहुंच गया हूं।…'—'ओ ऽ ऽ! समेट ले जल्दी से'—उसने अपनी पत्नी को आवाज लगाई।

—'नहीं, मैं घर नहीं जा रहा हूं। मुझे भी चक पै जाना है। मैं जाता हूं। तुम आराम से नहा-धोकर नाश्ता-पानी करके आ जाना। कोई जल्दी नहीं है। आज त्यौहार है, आराम से आ जाना, मैं हूं वहीं।'—मैं कहते-कहते कह गया। शब्दों की संगति में एक के पीछे एक शब्द

निकलते गए। किंतु, यह नहीं सोचा कि जो मैं कह रहा हूं—वह शंकर पर कितना लागू होता है?

शंकर थोड़ा हंसते हुए कहने लगा—'जब चक पै जा रहे हो; तो बैठो थोड़ी देर, साथ में चलेंगे 'चा' पीकर।'

—'नहीं रे! मैं सब खा-पीकर आया हूं। मैं चलता हूं। मुझे वापस आना है घंटे भर में।'

गीले शरीर पर सूखी धोती को चिपकाए हुए उसकी औरत अंदर आ गई। पैरों पर से होकर अभी भी पानी चू रहा था। बिवाइयां फटे पैरों में लगी हुई मिट्टी नहाने के बाद भी नहीं छूटी थी। अंदर आते-आते उसने मुझ से कहा—'का जानों-जानों कह रहे हो? कितने दिनों में रास्ता भूल के आए हो हयां। थोड़ी चा···पी के जाओ।'

मैं उसकी बात नहीं टाल सका। बैठ गया जमीन पर ही। शंकर ने झटके से उठ कर बिना हेंडल-कुंडा की बालटी में एक कनस्तर पानी उंडेल लिया और उसे दोनों हाथों से भगौना की तरह उठा कर दरवाजे पर निकल गया।

एक लोटा में से निकाल कर उसकी पत्नी ने लड़की के हाथ में पैसे थमाते हुए कहा—'इतने की 'चा-पत्ती' और इतने की जितनी आवे उतनी चीनी ले आ-जा दौड़ कै!'—उसने लड़की से पुनः एक बार दुहरवा कर सुन लिया कि उसे क्या-क्या लाना है। मुझे लगा लड़की बकरी की तरह पतली आवाज में बोल रही है।

जब उसने चाय-चीनी लाने के लिए कहा था तो मेरा मन बेचैन हो गया। यों ही मेरा हाथ जेबें टटोलने लगा। चक पर जाना था, इसलिए मैं जान-बूझकर अपना बटुआ घर छोड़ आया था।

—'वैसे चाय की कोई जरूरत नहीं है। मैं तो अभी-अभी घर में पी कर आया हूं।'

—'ठीक है, पी के आए हो तो और थोड़ा पी लेव। तुम्हारे साथ में हमें भी थोड़ी चीनी की चा मिल जाएगी और फिर आज त्यौहार को दिन, घर में बड़े आदमी को पांव पड़नो अच्छी बात हयं।'

मैं हंसने लगा। शंकर और हम एक ही कुल-वंश के हैं। एक ही खानदान है हमारा। हम 'मोरे' गोत्र से बंधे हुए हैं। शंकर भी इसलिए चिपका हुआ है—हम लोगों से। उसकी विधवा मां को शंकर के विवाह के लिए बड़े भैय्या ने पैसे दिए थे। साल भर मेहनत मजदूरी कर शंकर ने वे पैसे चुका दिए। इसके बाद वह हमारे खेतों पर सालाना की बंधी मजदूरी पर रहने लगा। अठवाड़े के अठवाड़े पैसे देने होते हैं और वह रात-दिन चक पै काम करता है। बिल्कुल घर के आदमी की तरह काम करता है। खेती-बाड़ी का सारा काम करता है—जुताई, गुड़ाई, निराई, पानी-पत्ता के अलावा गाय-भैंसों की धार काढ़ता है और बैलों का सानी-पानी सबकुछ करता है और वह भी बिना किसी कहा-सुनी के। चक की हरियाली उसी के दम पर बनी रहती है—बारहों महीने। साल भर की फसल घर में आती है और ईख चीनी मिल के लिए जाती है। उसके होते हुए किसी प्रकार की चिंता नहीं है। उसे भी अपने गोत्र-वंश के कारण लगता है कि—'मैं इसी खानदान का तो हूं।'

—'ये देखो, हो गया असनान। कितनी देर लगती है, आदमी को नहाने में?'—देखते-देखते ही वह नहा आया था। मेरे सामने ही वह अपनी छाती पर से, पेट पर से, अपनी बांहों पर से हाथों से समेट-समेट कर पानी निचोड़ कर नीचे की ओर छिड़क रहा था। फिर नहाने से पहले उतारे हुए कुरते से ही शरीर पोंछ डाला। इसके बाद एक कोने में लटके हुए खादी के पुराने-धुराने कुरते को शरीर पर पहन लिया। यह कुरता बड़े भैय्या ने, पुराना हो जाने पर इसे दे दिया था। मुझे हंसी आ रही थी। कांग्रेसी बड़े भैय्या का लंबा-चौड़ा कुरता, उसे पहन कर शंकर बिल्कुल 'बिजूका' जैसा लग रहा था। ठीक भी है 'बिजूका' भी तो शंकर की तरह वफादारी से खेतों की रखवाली करता है। शंकर और 'बिजूका' में क्या फर्क है?

शंकर की पत्नी ने एक बिलास्त भर चौड़ी ऐल्यूमीनियम की थाली में, जंग लगे हुए किसी पुराने दीपक में रुई की आधी बत्ती तेल में भिगो कर जलाई और आले में रखी एक माटी की मूर्ति की आरती उतारी। भगवान को उसने सूखी आरती दिखाई। नैवेद्य के नाम पर चावल के सिर्फ दो दाने थाली में ही डाल लिए थे।

—'बैठ जाओ इधर।'—उसने अपने आदमी से कहा।

शंकर का वह 'बिजूका' खुश होकर देवालय के नीचे ही दीवाल से सट कर बैठ गया। और, औरत ने उसकी आरती उतारी—'अलाय-बलाय टरे। दिवारी-दसरा भरे। मोती-मानिक झरे·····।'

शेष पृष्ठ 51 पर

मुनि क्षमासागर की कविताएं

•

अपना घर

चिड़िया तुम आती हो
मेरे घर
मुझे अपना घर
तब बहुत अच्छा
लगने लगता है।
तुम बना लेती हो
अपना घर
मेरे घर में
मुझे यह भी
अच्छा लगता है।
मैं जानता हूं
तुम मेरे घर
नहीं आती
अपने घर आती हो
पर अपने घर
आने के लिए
तुम्हारा मेरे घर आना
मुझे अच्छा लगता है
सचमुच
तुम्हारे घर ने
मेरे घर को
अपना घर बना दिया।

•

कभी ऐसा हो

कभी ऐसा हो
कि देने का मन हो
और लेने वाला
कोई करीब न हो,
कभी हम
कुछ कहना चाहें
और सुनने वाला
कोई करीब न हो,
तब एहसास होता है
कि देने और
सुनाने वाले से
लेने और सुनने वाला
ज्यादा कीमती है।

•

मित्र

नए को आने के लिए
यदि पुराने को हटना
या हटाना पड़ता है
तो यह नियम
बेजान चीजों को लेकर
चल भी सकता है
यदि यही नियम
व्यक्ति को लेकर भी चलता है
तो मुझे अमान्य है
नया मित्र आए
स्वागत है
लेकिन पुराना मित्र
बिदा हो जाए
यह तो
मित्रता का अनादर है।

•

सीढ़ी हूं

मैं तो
लोगों लिए
एक सीढ़ी हूं,
जिस पर
पैर रख कर
उन्हें ऊपर पहुंचना है।
तब सीढ़ी का
क्या अधिकार
कि वह सोचे,
कि किसने
धीरे से पैर रखा
और कौन
उसे रौंदता चला गया।

•

बंटवारा

आकाश सबका
दीवारें हमारी अपनी
नदी सबकी
गागर हमारी अपनी
धरती सबकी
आंगन हमारा अपना
विराट सबका
सीमाएं हमारी अपनी।

•

लिखते वक्त

लिखने के बाद
लिखा हुआ
भले ही झूठा हो जाए
पर लिखते वक्त
हम
झूठे नहीं होते। ❖

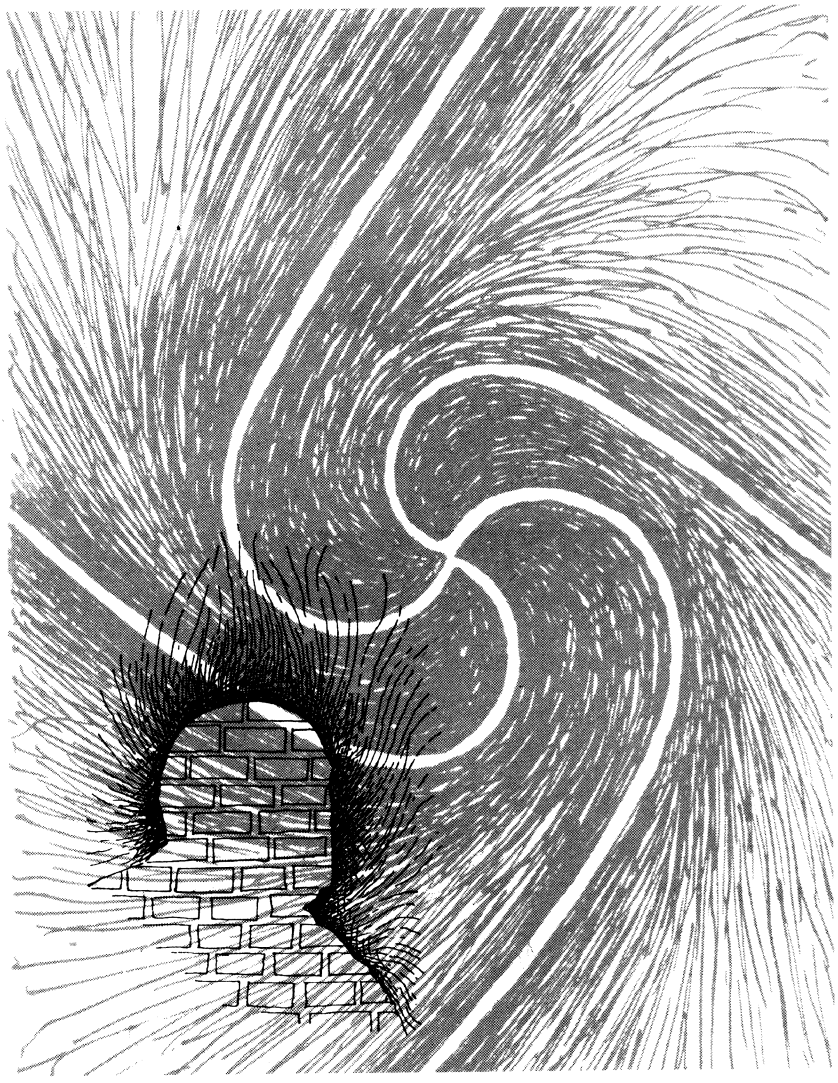

शीलन

शिक्षा के जरिए वर्ग-भेद, जाति-भेद, धार्मिक कट्टरवाद, नस्लवाद, पितृसत्ता, सामंती व गैर-तार्किक सोच, पिछड़ेपन आदि विकृतियों के खिलाफ लड़ाई आगे बढ़ाने के सरोकार गौण हो रहे हैं। शिक्षा वैश्विक बाजार की ताकतों के हाथ में वर्चस्ववाद, शोषण, सांप्रदायिकता व विषमता फैलाने का हथियार बनती जा रही है। दरअस्ल, वैश्वीकरण के शिक्षा पर हुए आक्रमण को मात्र निजीकरण व बाजारीकरण मान लेना अति-संरलीकरण होगा। पूरी सचाई तो यह है कि वैश्वीकरण का आक्रमण शिक्षा में निहित ज्ञान के चरित्र पर है, ताकि ज्ञान के सृजन, संप्रेषण और वितरण पर बाजार की ताकतों का नियंत्रण हो सके।

—प्रो. (डॉ.) अनिल सद्गोपाल

मनुष्य का अस्तित्व सापेक्ष है। हवा, अन्न, जल, मकान, वस्त्र आदि की अनुपलब्धता की स्थिति में उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। प्राणीमात्र के अस्तित्व अथवा सह-अस्तित्व की स्थिति में ही जीवनचक्र के आगे बढ़ने की परिकल्पना की जा सकती है। एकत्व, परस्परता, विश्वास, अभय आदि सह-अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। अतः आर्थिक परिप्रेक्ष्य में इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्या कच्चे माल के भंडारण के बिना उद्योगों का विस्तार संभव है? अर्थनीति एवं वाणिज्यिकी के साथ जब अध्यात्म के मूल्यों का प्रशिक्षण होता है, तो जीवन समस्यामुक्त बन जाता है।

सापेक्ष अर्थशास्त्र : समाजोपयोगी अवधारणा

साध्वी निर्वाणश्री

यह जगत अनेक नीतियों से संचालित है। उनमें धर्मनीति, अर्थनीति, राजनीति आदि प्रमुख हैं। इनमें से जब किसी एक को अतिरिक्त बल मिलता है तो संतुलित विकास अवरुद्ध हो जाता है। जीवन का केंद्रीय तत्त्व आज अर्थ बना हुआ है। व्यक्ति की आकांक्षाओं को पर लग गए हैं और दुर्भाग्य से उसी के इर्द-गिर्द चिंतन की धुरी घूम रही है। समय और संसाधनों का अधिकतम उपयोग अर्थ-बल को बढ़ाने के लिए किया जा रहा है। नैतिक और सामाजिक मूल्यों को बिसरा कर अर्थ की अंधी दौड़ में व्यक्ति आगे से आगे बढ़ रहा है। चरित्र-निष्ठ लोग हाशिए में आ रहे हैं और अर्थ-सत्ता में लिप्त लोगों को प्रतिष्ठा मिल रही है। लोगों की जीवनशैली आवश्यकता और उपयोगिता से हट कर आसक्ति व सुविधावाद से प्रभावित होती जा रही है।

अर्थशास्त्र की एकाकी अवधारणाओं ने अनेक सामाजिक विषमताओं को पनपने का अवसर दिया। पूंजीवाद, भौतिकवाद, निरंकुश प्रौद्योगिकी विकास, उपभोक्तावाद, मीडिया का उत्तेजक प्रसार, मूल्य-परक शिक्षा का अभाव, सामाजिकता का ह्रास और अपराधीकरण उनमें प्रमुख हैं।

इसी क्रम में शताब्दी के मनीषी पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सापेक्ष अर्थशास्त्र (Relative Economics) के रूप में चिंतन का एक नया आलोक समाज को दिया है। उन्होंने कहा है—'जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की संपूर्ति का माध्यम अर्थ है, पर हमारी अर्थनीति और अर्थव्यवस्था में संवेदनशीलता, करुणा व नैतिकता आदि तत्त्वों का समावेश आवश्यक है।' संतुलित विकास की अवधारणा के संदर्भ में उन्होंने एक चतुष्पदी दी है, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मननीय है। उस चतुष्पदी का स्वरूप इस प्रकार है—

* आर्थिक व भौतिक विकास
* पर्यावरण की चेतना का विकास
* नैतिक चेतना का विकास
* आध्यात्मिक चेतना का विकास।

जीवन-गत सुविधाओं, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि से सापेक्ष अर्थशास्त्र का कोई विरोध नहीं है, पर स्वच्छंद भोगवाद पर यह अंकुश लगाता है। इच्छा संयम, उपभोग संयम एवं मानवीय व नैतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सुदृढ़ आधार प्रदान करने वाला यह दर्शन मार्क्स और गांधी की आदर्श अर्थशास्त्रीय अवधारणाओं के साथ सुसंगत है। यही स्थाई विकास का पक्षधर है। समाजशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र आदि के परिप्रेक्ष्य में जब इसका अध्ययन किया जाता है, तो उससे चिंतन को एक नया आलोक मिलता है। ठहराव को गति मिलती है और संविभाग, समानता, श्रमनिष्ठा जैसे जीवन-मूल्यों को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

यह सभी मानते हैं कि विकास के नजरिए को बदले बिना मात्र पेड़-पौधों, पहाड़ों-नदियों की रक्षा करके अथवा जंगलों का विस्तार करने से समस्या के मूल पर प्रहार नहीं किया जा सकता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की एक कृति 'पर्यावरण : समस्या और समाधान' में इसकी गहन समीक्षा की गई है। प्रखर अध्यात्मविद् भगवान महावीर के अध्यात्म एवं वर्तमान विज्ञान के सृष्टि संतुलनवाद की समन्वित प्रस्तुति है आचार्य महाप्रज्ञ का 'सापेक्ष अर्थशास्त्र'। उनकी दृष्टि में मानव जाति की समृद्धि एवं सह-अस्तित्व का भविष्य मानवीय एकता एवं मानसिक एकाग्रता पर ही निर्भर है। इस संबंध में मानव मात्र को आगाह करते हुए वे कहते हैं—अनावश्यक भोग और प्रदर्शन न हो तो एक भी व्यक्ति दिवालिया नहीं होगा। कोई महामंदी की चपेट में नहीं आएगा। संयम के आधार पर ही भ्रष्टाचार को नियंत्रित किया जा सकता है। संयम के परिपुष्ट होने पर उपार्जन की शुद्धता एवं अर्जित अर्थ के समान-वितरण व विसर्जन जैसे तत्त्व स्वतः निष्पन्न हैं।

सापेक्ष अर्थशास्त्र के संदर्भ में विकसित, विकासशील, अविकसित राष्ट्र को नए सिरे से व्याख्यायित करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जो समीकरण प्रस्तुत करते हैं, वह भी सर्वग्राह्य है।

सापेक्ष अर्थशास्त्र के माध्यम से व्यक्ति और समाज, दोनों की समस्याओं का समाधान एक साथ किया जा सकता है। स्वार्थ का संपोषण व संवर्धन व्यक्ति की सीमा है। समाज की अपेक्षा है—स्वार्थ का विस्तार। ऊपरी तौर पर दोनों एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, पर सापेक्षता के आधार पर विरोध में भी अविरोध को खोजा जा सकता है। दार्शनिक और गणितीय क्षेत्र में इस आधार पर अनेक विरोधी विचारों का समन्वय किया गया है। आर्थिक क्षेत्र में भी सापेक्ष अर्थशास्त्र के आधार पर ज्वलंत समस्याओं के समाधान का पथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने दिखलाया है। वे कहते हैं—'शोषण-मुक्त एवं अपराध-मुक्त समाज की स्थापना इसके द्वारा संभव है।' यह कोई अतिकल्पना नहीं है, अपितु युगमनीषी का युगांतकारी चिंतन है। परस्परावलंबन की चेतना जागने पर संग्रह और आपाधापी पर स्वतः अंकुश लगता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सापेक्ष अर्थशास्त्र के सूत्रों को भारतीय मनीषा के चिंतन के बहुत गहरे में जाकर खोजे हैं। जैन भारती, अगस्त 2010 के आलेख—'आध्यात्मिकता : व्यक्तित्व विकास के लिए' में स्मृतिकारों के चिंतन को उद्धृत करते हुए लिखा है—

यावत् भ्रियते जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो वधमर्हति।।

प्रस्तुत श्लोक का फलितार्थ है कि व्यक्ति अकूत संपदा पाने की लालसा न संजोए। स्वस्थ एवं समरस जीवन के लिए स्वामित्व की सीमा आवश्यक है। संपत्ति की निस्सीमता समस्याओं को द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ा देती है।

सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा के द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति में स्वामित्व के विसर्जन और परस्परावलंबन की भावना जागृत होना सहज है। त्याग और करुणा से भावित चित्त प्रिय से प्रिय वस्तु का परित्याग सहजता से कर सकता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन की टिप्पणी इस संदर्भ में मननीय है। वे कहते हैं—'मेरे लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसको मैं क्षण भर के 'नोटिस' पर छोड़ न सकूं।'

प्रिय का संयोग और अप्रिय का वियोग ही सामाजिक प्राणी के लिए सबसे बड़ा दुख है। समाज में स्वस्थता तब ही संभव है, जब सबको समय पर उचित पोषण मिले। इसे संतुलित भोजन के उदाहरण से समझाते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा—'जैसे अच्छे स्वास्थ्य के लिए श्वेतसार, क्षार, लवण आदि सभी तत्त्वों का

समन्वय आवश्यक है, उसी प्रकार आर्थिकता के साथ आध्यात्मिकता, सामाजिकता आदि के तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है।'

सब जानते हैं कि आर्थिक संपन्नता के बावजूद मनुष्य कई बार अपने परिवार और समाज से कट जाता है, क्योंकि अर्थ की प्रकृति ही कुछ ऐसी है। वह व्यक्ति को बाहर से जितना भरती है, भीतर से उतना ही खाली करती है। स्वामित्व के विस्तार में वह स्वयं को इतना सबल समझता है कि उसके प्रभाव में दूसरे सभी उसे बौने प्रतीत होते हैं। संस्कृत कवियों ने इसी वास्तविकता को उजागर करते हुए कहा—**अर्थी दोषान्न गणयति**—स्वार्थी व्यक्ति की आंखों में ऐसा अंधत्व उतर आता है कि उसे अपने स्वार्थ के अतिरिक्त कोई दोष दिखाई नहीं देता।

मनुष्य का अस्तित्व सापेक्ष है। हवा, अन्न, जल, मकान, वस्त्र आदि की अनुपलब्धता की स्थिति में उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। प्राणीमात्र के अस्तित्व अथवा सह-अस्तित्व की स्थिति में ही जीवनचक्र के आगे बढ़ने की परिकल्पना की जा सकती है। एकत्व, परस्परता, विश्वास, अभय आदि सह-अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। अतः आर्थिक परिप्रेक्ष्य में इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्या कच्चे माल के भंडारण के बिना उद्योगों का विस्तार संभव है? अर्थनीति एवं वाणिज्यिकी के साथ जब अध्यात्म के मूल्यों का प्रशिक्षण होता है, तो जीवन समस्यामुक्त बन जाता है।

आर्थिक पक्ष के साथ इच्छा, आवश्यकता, उपार्जन, भोग, स्वामित्व, शोषण, अपराध, अशांति, हिंसा, युद्ध आदि अनेक पहलू जुड़े हुए हैं। इन सब बिंदुओं पर समग्रता से चिंतन करके ही समस्याओं का सही समाधान खोजा जा सकता है। अहिंसा और अणुव्रत : सिद्धांत और प्रयोग में प्रस्तुत विषय की विस्तृत मीमांसा कर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने विचारशील जगत को एक नया दर्शन दिया है। उस ओर गौर करने की जरूरत है। ❖

नहान का त्यौहार पृष्ठ 45 का शेष

उस गड़बड़ी में भी उसने अपनी तंबाकू की बटुआनुमा कोथली में से दस-दस पैसे के दो सिक्के मोती-माणिक की तरह ही निकाले और औरत की थाली में डाल दिए। दोनों का ही नहान पर्व सार्थक हो गया।

लड़की दौड़ती हुई वापस आ गई। उसकी मां ने चीनी की चाय बनाई। घर के ही कोने में ठंडी में सिकुड़ी बैठी बकरी को उठा दिया गया। घर के अंधेरे के रंग-रूप में छिपी वह काली-कबरी बकरी मिमियां कर उठ बैठी। इस ठंडी में उसे धार न देने की इच्छा थी। शंकर की पत्नी ने उसकी ऐंनरी (थनों) को इस तरह खींचा जैसे कोई रबड़ से हवा निकले गुब्बारे को खींचता हो। खींच-तान कर एक खोंच भर दूध निकाला। उसे वैसे ही चाय में डाल दिया और घर भर के लिए चाय तैयार हो गई।

चटकी हुई प्लेट में लाल-काले तांबई रंग के उस गर्म-मीठे से पानी को पीते हुए मैंने कहा—'बकरी कोई ज्यादा दूध देती नहीं दिखती?'

—'कहां देती है? लत्याने लगी है, अब। कल दिन में उसे जरा पानी से धो दिया था। इसलिए ठंडी में सिकुड़ कर बंदर जैसी लग रही है। घंटी भर दूध देती थी, लेकिन आज तो खोंच भर भी नहीं निकला है।'

—'नाहीं-नहीं करते भी तूने ही उसे नहला दियो हतो।'—लड़की झूठे गुस्से में, चीनी की चा का मजे से स्वाद लेते हुए कह रही थी—'बकरिया की जाति कूं नहाने से का फायदा? हां, नहीं का बापू?'

—'रहने दे, तुझे कुछ समझता नहीं अभी। घर की लछमी है—वह। बरस भर में एक त्यौहार के दिन भी नहीं नहवाया जाए उसे?'—बकरी जैसी गरीब लक्ष्मी को उसने 'गाय-बछड़ा द्वादसी' के दिन घर के गोधन के रूप में पूजा था।

—'चलौ।'—शंकर ने चाय को गले के नीचे उतारा और अज्ञात रस्से से खींचे जाने की तरह उठ खड़ा हुआ।

सात जन्मों से न नहाई हुई पसारे बस्ती के बालकों द्वारा की गई गंदगी से पैरों को बचाते हुए मैं चक की तरफ जाने लगा। ❖

समाप्त

अनुवाद : डॉ. केशव प्रथमवीर

शब्दों के अतिरिक्त हमारे पास अभिव्यक्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। यह साधन भी पूर्ण नहीं है, परंतु इसी का सहारा हमें लेना पड़ता है। जितना हम कहना चाहते हैं, वह सब शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होता। कहीं-कहीं शब्द अनर्थ भी पैदा कर देते हैं। यह होते हुए भी हमारा संपूर्ण पारस्परिक व्यवहार इसी पर आश्रित है। कई शब्द ऐसे हैं, जिनसे केवल सामान्य अर्थ-बोध ही होता है और कई शब्द महत्त्वपूर्ण परंपराओं के संवाहक भी होते हैं। प्रयोगकाल में वे परंपराएं प्रचलित होती हैं, अतः तत्-तत् शब्दों से वे अभिव्यक्त की जाती हैं। किंतु, कालांतर में अनेक कारणों से मूल अर्थ-बोध लुप्त हो जाता है और परंपरा को वहन करने वाले शब्द भी केवल सामान्य अर्थ के वाचक मात्र रह जाते हैं। इस शब्दगत समस्या का यह इतिहास अति प्राचीन है। इसका समाधान शक्य नहीं है।

शब्द परंपरा और मीमांसा : एक दृष्टि

मुनि दुलहराज

हम मनुष्य हैं। हमारी अभिव्यक्ति का सक्षम माध्यम है—भाषा। भाषा ही शब्दों की संहति है। शब्दों के अनंत पर्याय हैं। अतः वे अनंत अर्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं। शब्दों का अपना कोई अर्थ नहीं है। उनमें अर्थ का आरोपण किया जाता है, तब वे अभिव्यक्ति के घटक बन जाते हैं। अर्थारोपण की यह इयत्ता अपनी-अपनी है, परंतु जब वे एक ही अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं—तब वे रूढ़ बन जाते हैं। यह रूढ़ता सार्वकालिक नहीं होती। क्योंकि अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता रहता है।

मुनि दुलहराजजी अब हमारे मध्य नहीं रहे। 18 जनवरी, 2011 को दोपहर 12.30 बजे वे देहातीत हो गए। वे आगम-मनीषी थे और कुछ माह पहले गठित की गई 'बहुश्रुत परिषद' के सदस्य भी थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी (मुनि नथमलजी) के साहित्य के संपादन-कार्य से भी वे लंबे समय तक जुड़े रहे। आचार्यश्री महाश्रमणजी ने उनकी सेवाओं को 'श्लाघनीय' माना है। मुनि दुलहराजजी की स्मृति को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए उन्हीं का एक आलेख *जैन भारती* के पाठकों के लिए—

भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से है, जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते हैं, जैसे—नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।

शब्दों के अतिरिक्त हमारे पास अभिव्यक्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। यह साधन भी पूर्ण नहीं है, परंतु इसी का सहारा हमें लेना पड़ता है। जितना हम कहना चाहते हैं, वह सब शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होता। कहीं-कहीं शब्द अनर्थ भी पैदा कर देते हैं। यह होते हुए भी हमारा संपूर्ण पारस्परिक व्यवहार इसी पर आश्रित है।

कई शब्द ऐसे हैं, जिनसे केवल सामान्य अर्थ-बोध ही होता है और कई शब्द महत्त्वपूर्ण परंपराओं के संवाहक भी होते हैं। प्रयोगकाल में वे परंपराएं प्रचलित होती हैं, अतः तत्-तत् शब्दों से वे अभिव्यक्त की जाती हैं। किंतु, कालांतर में अनेक कारणों से मूल अर्थ-बोध लुप्त हो जाता है और परंपरा को वहन करने वाले शब्द भी केवल सामान्य अर्थ के वाचक मात्र रह जाते हैं। इस शब्दगत समस्या का यह इतिहास अति प्राचीन है। इसका समाधान शक्य नहीं है। इसीलिए शब्दों से अनेक-अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं और बढ़ते-बढ़ते नए-नए दर्शनों का भी उद्भव हो जाता है।

यहां उन कुछेक शब्दों की ओर इंगित किया जा रहा है, जो विशेष परंपराओं के बोधक रहे हैं और आज उनकी गरिमा को व्याख्या-ग्रंथों की अर्थ-परंपरा से ही जाना जा सकता है। जैसे—

1. मज्झिमेण वयसा

आचारांग (8/3/38) के आठवें अध्ययन के तीसरे उद्देशक का प्रथम सूत्र है **'मज्झिमेण वयसा विएगे, संवुज्झमाणा समुट्ठिता'**—एक व्यक्ति मध्यम वय में भी संबुध्यमान होकर संयम के लिए उत्थित होता है। यहां मध्यम-वय शब्द एक विशेष परंपरा या सिद्धांत का द्योतक है।

भगवान महावीर का दर्शन सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक था। उसमें काल, वय, व्यक्ति या क्षेत्रकृत बाधाएं नहीं थीं। इसके विपरीत अन्य दर्शनों में धर्म-प्रज्ञप्ति के लिए वय का निर्धारण मान्य था। उनमें चार आश्रमों की मान्यता बहु-प्रचलित थी। संन्यास चौथे आश्रम में ही लिया जा सकता है, यह उद्घोष सुनाई देता था। इस इयत्ता ने धर्म-प्रज्ञप्ति में अनेक संकट उत्पन्न कर डाले थे।

भगवान महावीर ने कहा—**'जामा तिण्णि उदाहिया।** अवस्थाएं तीन हैं—प्रथम, मध्यम और पश्चिम।'—प्रथम अवस्था का कालमान नौ वर्ष से तीस वर्ष तक, मध्यम का तीस से साठ तक तथा तृतीय वय का कालमान साठ से ऊपर है। इन तीनों अवस्थाओं में धर्माचरण हो सकता है, संबोधि प्राप्त हो सकती है। यह भगवान महावीर का क्रांतिकारी निर्देश था।

धर्म-जागरण के लिए यद्यपि अवस्था का कोई प्रतिबंध नहीं है, फिर भी **'मज्झिम वय'**—'मध्यम वय' प्रव्रज्या के लिए अत्यंत उपयुक्त है। क्योंकि प्रायः तीर्थंकर, गणधर आदि इसी वय में प्रव्रजित होते हैं तथा इस वय तक व्यक्ति अनेक भोगों को भोग कर इनका भुक्त-भोगी हो जाता है और भोगों के कटु परिणामों से भी सुपरिचित हो जाता है और उनके प्रति जो आकर्षण होता है, वह भी मिट जाता है। दूसरी बात है कि उसके मन के सभी कुतूहल भी शांत हो जाते हैं और वह सुखपूर्वक विराग-मार्ग पर स्थित रह सकता है। उसका विज्ञान भी पटुतर होता है और अनुभव की परिपक्वता से वह दुरनुचर तथा घोर मार्ग का भी निष्ठा से आचरण कर सकता है।

उपरोक्त कथन को हमें आगमकालीन परिस्थिति में समझना चाहिए। आज की सामाजिक स्थिति में, चाहे वह कुछ अपर्याप्त भी मालूम पड़े, फिर भी उसमें अंतर्निहित सत्य को नहीं नकारा जा सकता।

2. विसमाइए

आचारांग (8/4/58) का यह प्रयोग विशेष परंपरा का संवाहक है। जब मुनि शीत स्पर्श सहने में अपने आपको असमर्थ माने, तब वह उस विशेष स्थिति में वैहायस-मरण, फांसी आदि के द्वारा प्राण त्याग दे। यह उल्लेख 'आत्महत्या' को मानने के लिए बाध्य करता है। जबकि जैन आचारवाद 'आत्महत्या' को जघन्यतम पाप मानता है, किंतु संयम-रक्षा के लिए शरीर-त्याग की अनुमति भी देता है। निम्नोक्त तथ्य से यह विदित हो जाता है—

एक बार एक व्यक्ति अपनी नवोढ़ा पत्नी को छोड़ कर प्रव्रजित हुआ। कुछ वर्ष बीते। ग्रामानुग्राम विहरण करते-करते वह भिक्षु उसी ग्राम में आ पहुंचा। घर वालों

ने उसे भिक्षा के लिए आमंत्रित किया। वह भिक्षा लेने गया। घर वालों के मन में मोह का ज्वार बढ़ा। ममत्व की ऊर्मियों से वे सब पराभूत हो गए। नवोढ़ा पत्नी का मन आसक्ति से भर गया। पूर्वा-चरित भागों की स्मृति ने उसे विह्वल बना डाला। भिक्षा देने के बहाने वह मुनि को एक कमरे में ले गई और कपाट बंद कर दिए। पत्नी ने भोग की प्रार्थना की। मुनि ने अपने श्रामण्य की अखंडता का प्रतिपादन किया। स्त्री नहीं मानी और मुनि को विवश करने लगी। वहां से भाग निकलने के सारे द्वार बंद थे। मुनि असहाय था। उसने कहा—यदि तू अपने विचार नहीं बदलेगी तो मैं प्राण दे दूंगा, ऊपर से नीचे गिर कर मर जाऊंगा। स्त्री अपने कथन पर दृढ़ थी। तब मुनि अपने संयम की रक्षा के लिए प्रासाद तल से गिर कर मर गया। भगवान ने कहा—ऐसी स्थिति में इस प्रकार प्राणों का विसर्जन कर देना अनुज्ञात है, सम्मत है। किंतु, हर एक स्थिति में ऐसा करना अनुज्ञात नहीं है।

इस तथ्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एकमात्र संयम की सुरक्षा के लिए जब अन्यान्य उपायों का अवकाश न हो, तब वैहायस-मरण, फांसी आदि साधनों द्वारा प्राण-त्याग करना काल-पर्याय है, अन्यथा नहीं। यह विवशता की स्थिति है।

3. संतरुत्तरे

यह दो शब्दों के योग से बना है—सांतर और उत्तर (आचारांग—8/4/51)। यह दो वस्त्रों का वाचक है—अंतरीय वस्त्र और उत्तरीय वस्त्र। इसका दूसरा अर्थ भी है, सांतर—सूत का कपड़ा तथा उत्तर—ऊन का कपड़ा। जो त्रिवस्त्र-धारी भिक्षु है, वह हेमंत के अतिक्रांत होने पर, ग्रीष्म के आने पर जीर्ण वस्त्रों का परिष्ठापन कर दे। यदि सारे वस्त्र जीर्ण न हुए हों, तो जो जीर्ण हो गए हैं, उन्हें छोड़ दे और स्वयं निस्संग होकर विहरण करे। यदि शिशिर के अतिक्रांत होने पर भी क्षेत्र, काल या अन्य प्राकृतिक कारणों से पुनः शीत के प्रकोप की आशंका हो तो वह 'सांतरुत्तर' हो जाए। अर्थात् वह एक वस्त्र ओढ़े और एक पास में रख दे। यह टीकाकार का अभिमत है। चूर्णिकार ने दोनों कपड़ों को काम में लेने की बात सांतरुत्तर में गृहीत की है।

उत्तराध्ययन के 'केसिगोयमीय' अध्ययन में अचेल और 'सांतरुत्तर' धर्म की चर्चा हुई है। जब पार्श्व और महावीर की परंपरा के निर्ग्रंथ एक-दूसरे को देखते हैं, तब उनके मन में यह विचिकित्सा उत्पन्न होती है।

भगवान महावीर के शिष्य सोचते हैं कि हमारा धर्म अचेल है और पार्श्व के श्रमणों का धर्म सांतरुत्तर है। एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्त दोनों के धर्म में इतना अंतर क्यों है?

कल्पसूत्र, चूर्णिकार और टिप्पणकार अंतर शब्द के तीन अर्थ करते हैं—सूतीवस्त्र, रजोहरण और पात्र. तथा उत्तर शब्द के दो अर्थ होते हैं—कंबल और ऊपर ओढ़ने का उत्तरीय वस्त्र।

प्राचीन काल में वर्षा के समय भीतर सूती कपड़ा और ऊपर ऊनी वस्त्र ओढ़ कर बाहर जाने की परंपरा रही है। यह परंपरा अत्यंत पुष्ट थी और आज भी यह प्रकारांतर से मूर्तिपूजकों में प्रचलित है।

सांतरुत्तर शब्द के चार अर्थ प्राप्त होते हैं—

1. उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति के अनुसार श्वेत और अल्पमूल्य वस्त्र का निरूपण करने वाला धर्म सांतरुत्तर है।
2. आचारांग वृत्ति के अनुसार, हेमंत के अनुसार एक वस्त्र को ओढ़ने तथा एक को पास में रखने की आज्ञा देने वाला धर्म।
3. आचारांग चूर्णि के अनुसार हेमंत के व्युत्सर्ग जाने पर भी शील की आशंका से दो वस्त्र रखने की अनुमति देने वाला धर्म।
4. कल्पसूत्र चूर्णि में सूती वस्त्र को भीतर और ऊनी वस्त्र को उपर ओढ़ने की व्यवस्था करने वाला धर्म।

इस प्रकार यह सांतरुत्तर शब्द भी एक विशेष परंपरा का द्योतक है और इसीलिए भगवान पार्श्व का धर्म इस शब्द से व्यवहृत हुआ है।

हमने यहां कुछेक शब्दों की ओर संकेत किया है, जो कि परंपराओं के संवाहक हैं और जिनके पीछे परंपरा की एक लंबी कहानी है। इन्हें हम केवल पारिभाषिक शब्द मात्र ही नहीं कह सकते। इन शब्दों के पीछे जो रहस्य छिपा है, वह इनकी गौरव-गाथा गाने में पर्याप्त है। ❖

स्वामीजी ने एक अद्भुत प्रेम और करुणा-भरी दृष्टि से हमारी ओर देखा। फिर बोले—'कच्चा छोटा-सा घर। गाय के गोबर से लीप-पोतकर स्वच्छ-सुंदर बना दिया था। आंगन में चौक पूरी गई थी। उसी के समीप एक वृद्धा साक्षात देवी की मूर्ति, धवल-वस्त्र पहने मेरी प्रतीक्षा में बैठी थी। हम दोनों ने एक-दूसरे को प्रणाम किया। फिर उस वृद्धा की बहू और बच्चों ने प्रणाम किया। फिर हरिशंकर ने कहा—'स्वामीजी! आज अपने खेत का, अपने ही हाथों से उपजाया हुआ अन्न घर में आया है। मां ने आज एकादशी का व्रत रखा है और उसने तय किया कि हमारे भाग्य से स्वामीजी यहीं पर विराज रहे हैं, तो क्यों न आज उनका प्रसाद ही हम भोजन में ग्रहण करें। घर में एक गाय है। उसी के दूध से खीर बनाई गई है। अब आप हम सबको प्रसाद देने की कृपा करें।'—घर की बहू ने कटोरा भर खीर मेरे सामने रख दी। मैंने उसमें से सबका हिस्सा बांट दिया। थोड़ा-सा चरणामृत भी प्रसाद स्वरूप सब को दिया।'

झरने! झरते अमृत के

उमाशंकर त्रिपाठी 'बंधुजी'

शाम का सुहावना समय था। मैं अपनी मस्ती में बैठा हुआ एक तुक-बंदी का जोड़-तोड़ कर रहा था कि मेरे मित्र किशोरचंद्रजी आ गए। आते ही बोले—'चलो मित्र, आज एक संत से आपकी भेंट करा लाएं।'—मेरे मन में उन क्षणों में एक से एक अच्छी कल्पनाओं की तरंगें उठ रही थीं, इसलिए मैंने बेमन से कहा—'भाई, आज तो यहां से उठने का जी नहीं कर रहा।.....फिर आजकल के संतों में मेरा कितना विश्वास है—इसे भी आप बखूबी जानते ही हैं।'—लेकिन, मेरे मित्र जबर्दस्ती करने पर तुल गए। मेरा हाथ पकड़ कर लगभग घसीटते हुए कहा—'यार, उनको ऐसा-वैसा संत मत समझना। बातचीत करके तबीयत खुश हो जाएगी।'—मरता क्या न करता, सो मैं मित्र के पीछे-पीछे संतजी के पास पहुंच गया।

न जाने किस प्रसंग में अमृत और विष की चर्चा चल पड़ी। मैंने कहा—'स्वामीजी! विज्ञान के इस युग में भी आप अमृत में विश्वास करते हैं?'

—'आप विश्वास की बात करते हैं, मैंने तो स्वाद लेकर भी देखा है और सच पूछा जाए तो आजकल के बढ़ते जा रहे विष का शमन करने के लिए अमृत की जितनी जरूरत आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी।'

मेरी जिज्ञासा बढ़ी। अतः मैंने प्रश्न किया—'तो आपने सचमुच ही अमृत को चख कर देखा है।'

—'हां, सचमुच देखा है'—स्वामीजी ने पूर्ण विश्वास के साथ उत्तर दिया।—'आप धैर्यपूर्वक सुनना चाहें तो मैं विष और अमृत, दोनों की बातें बता दूं।'

हम दोनों कुछ आगे की ओर सरक कर बैठ गए। तीन-चार आदमी और आ गए थे। स्वामीजी ने कहना शुरू किया।

—'उस समय मैं इटावा शहर में था। वहां पर मेरे कुछ अच्छे मित्र भी थे। एक दिन प्रातः मैं ध्यान से उठा ही था कि मेरे एक मित्र द्वारकाप्रसादजी आ गए और बोले—'स्वामीजी, आज प्रातःकाल का नाश्ता आपको शमशेर बहादुर के यहां करना है।'

—'देखिए द्वारकाबाबू, नाश्ता-वाश्ता कराने के लिए मुझे कहीं मत ले चलिए। जो भी रूखा-सूखा यहां पर आ जाएगा, मैं उसी को खा लूंगा। वैसे भी मैं किसी के यहां जाता नहीं हूं, फिर शमशेरजी के यहां जाना तो मैं बिल्कुल पसंद नहीं करूंगा।'

—'स्वामीजी! मैं जबान दे चुका हूं। बात हार चुका हूं। मेरी इज्जत का सवाल है। इस बार तो मेरी लाज बचाने के लिए ही आप चलिए।'—द्वारकाबाबू ने कहा।

थोड़ी देर तक बात होती रही। अंत में उनको बहुत अधिक परेशान देख कर मैं उनके साथ हो लिया।

शमशेरजी काफी ठाट-बाट वाले आदमी थे। जब मैं उनकी कोठी पर पहुंचा तो उनके यहां दस-बारह आदमियों का जमघट लगा था। मेज के ऊपर दो-तीन बोतलें रखी हुई थीं। कहीं कोई कत्ल हो गया था और उसी की चर्चा हो रही थी। उन्होंने द्वारकाप्रसादजी को दिन और समय बता दिया था, किंतु वे इस बात को बिल्कुल ही भूल गए थे और हम दोनों एक प्रकार से अप्रत्याशित रूप से वहां पहुंच गए थे। वे सकपका कर उठ खड़े हुए। मेरे मित्र को काटो तो खून नहीं, उनका चेहरा पीला पड़ गया। शमशेरजी के मुंह से निकल पड़ा—'अरे द्वारकाबाबू, आपकी बात को तो मैं बिल्कुल ही भूल गया था। माफ करना। एक उलझन में फंस गया हूं। स्वामीजी को उस कमरे में ले जा कर नाश्ता करा दें। मैं अभी सेवा में हाजिर होता हूं।'

द्वारकाबाबू का रक्त जैसे सूख ही गया था। उन्हें मेरी तरफ देखने की हिम्मत भी नहीं थी। थोड़ी देर बाद एक गिलास दूध और कुछ फल आ गए। मैंने मुश्किल से एक-दो घूंट दूध पीया होगा कि मुझे लगा कि मेरा सारा शरीर जलने लगा है। थोड़ी देर तक हम दोनों खामोश बैठे रहे। फिर द्वारकाबाबू ने धीरे से कहा—'स्वामीजी, माफ करना, मुझसे बड़ी भूल हो गई है।'

हम दोनों उठ कर आ गए। आप सच मानिए, मुझे आठ-दस दिन तक ऐसी बेचैनी रही कि मैं आपको बता नहीं सकता। आप कह सकते हैं कि यह सब अज्ञात-मन के कारण हुआ। अज्ञात और ज्ञात-मन को मैं खूब जानता हूं, किंतु इसमें किसी प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव नहीं था। जो कुछ था, वास्तविक था।

इसके बाद थोड़ी देर तक उस कुटिया में निश्चल नीरवता व्याप्त रही। फिर स्वामीजी ने अपनी गर्दन ऊंची उठाई और कहा—'आज अपने चारों ओर इसी प्रकार के जहर के झरने बह रहे हैं। हम लोग जहर के उस झरने के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि उसका प्रभाव हमको सहज रूप से ज्ञात ही नहीं होता, किंतु दुनिया आजकल जो अंदर ही अंदर झुलस रही है, यह इन्हीं 'विषैले झरनों' का प्रभाव है।'

'यह विष एकदम से विश्व को नष्ट नहीं कर पा रहा है। वह इन्हीं अमृत के झरनों का प्रभाव है, जिसका जिक्र मैं आपसे करने जा रहा हूं।'

हम दोनों की उत्कंठा सहज ही बढ़ गई थी। मैंने कहा—'स्वामीजी, अब अमृत के झरने का स्वाद भी हमको चखाइए।'

इस पर स्वामीजी खिल-खिलाकर हंस पड़े। बोले—'जरूर-जरूर! इसके बिना तो विष आपके अन्दर भी प्रवेश कर जाएगा।'

—'सायंकाल का समय था'—स्वामीजी ने बड़े धीर-गंभीर स्वर में कहा। मैं कुटिया की छत पर बैठा हुआ अस्ताचलगामी सूर्य-भगवान की स्वर्णमयी रश्मियों को आत्मविभोर होकर देख रहा था कि हरिशंकर नाम का अत्यंत साधारण व्यक्ति कुटिया के

अंदर आया। प्रणाम करके कहा—'स्वामीजी! मेरी बूढ़ी मां ने आज एकादशी का व्रत किया है। उनकी बड़ी इच्छा है कि वे आपके दर्शन करके आपके हाथों से प्रसाद प्राप्त करें।'—आप सच मानिए उस व्यक्ति के हृदय में इतना प्रेम उमड़ रहा था कि मैं उसे 'न' नहीं कर सका।'

स्वामीजी ने एक अद्‌भुत प्रेम और करुणा-भरी दृष्टि से हमारी ओर देखा। फिर बोले—'कच्चा छोटा-सा घर। गाय के गोबर से लीप-पोतकर स्वच्छ-सुंदर बना दिया था। आंगन में चौक पूरी गई थी। उसी के समीप एक वृद्धा साक्षात देवी की मूर्ति, धवल-वस्त्र पहने मेरी प्रतीक्षा में बैठी थी।

हम दोनों ने एक-दूसरे को प्रणाम किया। फिर उस वृद्धा की बहू और बच्चों ने प्रणाम किया। फिर हरिशंकर ने कहा—'स्वामीजी! आज अपने खेत का, अपने ही हाथों से उपजाया हुआ अन्न घर में आया है। मां ने आज एकादशी का व्रत रखा है और उसने तय किया कि हमारे भाग्य से स्वामीजी यहीं पर विराज रहे हैं, तो क्यों न आज उनका प्रसाद ही हम भोजन में ग्रहण करें। घर में एक गाय है। उसी के दूध से खीर बनाई गई है। अब आप हम सबको प्रसाद देने की कृपा करें।'—घर की बहू ने कटोरा भर खीर मेरे सामने रख दी। मैंने उसमें से सबका हिस्सा बांट दिया। थोड़ा-सा चरणामृत भी प्रसाद स्वरूप सब को दिया।

उस खीर और उस चरणामृत को पाकर जो तृप्ति हुई, उसे मैं आज तक भी भूल नहीं सका हूं।

अब आप ही न्याय करिए कि अमृत के झरने बहते हैं या नहीं और क्या इन्हीं झरनों के कारण विष के झरनों के विष का शमन नहीं होता है?'

हम सभी ने सिर झुका कर स्वामीजी की बात को स्वीकार किया। प्रणाम किया और अमृत के झरनों की चर्चा करते हुए लौट आए। ❖

मां की सही सीख

एक बार मैं अपनी मां के साथ एक बहुत पुराना मंदिर देखने गया। मंदिर पुराना अवश्य था, किंतु बहुत ही भव्य था। उसकी कारीगरी तथा भव्यता की तारीफ हम लोग बड़ी देर तक करते रहे। अचानक ही मेरी निगाह उसकी दीवारों पर गई। उन दीवारों पर खोद-खोद कर अनेक लोगों ने अपने नाम लिख रखे थे। मेरी भी इच्छा अपना नाम लिखने की हुई। मैंने इधर-उधर देखा। पास में ही कोयले का एक बड़ा-सा टुकड़ा पड़ा था। मैंने उसे उठाया और नाम लिखना शुरू भी नहीं किया था कि मेरी मां ने मुझे पुकारा—'राजू! क्या करने जा रहा है।'—मैं थोड़ा झिझका। फिर बोला—'मां, मैं भी अपना नाम लिखना चाहता हूं।'

मां हंसी और बोली—'बेटा, इन नामों ने इस मंदिर की पवित्रता और भव्यता को कितना बिगाड़ दिया है! तुम इस पर थोड़ा सोचो। इन नामों को शायद ही कोई पढ़ता होगा। किंतु, लिखने वालों ने दीवारों को जिस प्रकार बिगाड़ दिया है—उस कलंक को हर कोई आसानी के साथ देखता है। क्या तुम भी इस मंदिर की भव्यता और पवित्रता को कलंकित करने में हिस्सा बंटाना चाहते हो?'

मां की बात सुन कर मैं सन्न रह गया। हाथ का कोयला दूर फेंक दिया। तब से लेकर आज तक मैं जब कभी और जहां कहीं इस प्रकार से नाम लिखे अथवा खुदे हुए देखता हूं तो मुझे अपनी प्यारी मां की सीख तुरंत याद हो आती है।

काश! सभी माताएं अपने बच्चों को इस प्रकार की सीख दें तो अनेक पेड़, अनेक मंदिर तथा अनेक दर्शनीय स्थान इस प्रकार बर्बाद होने से बच सकते हैं। ❖

—'बंधुजी'

 पृष्ठ 40 का शेष

हो रहा है—भगवान बुद्ध ने शिष्यों से कहा कि यहां दुष्काल पड़ने वाला है, इसलिए हम अन्यत्र विहार करेंगे। कहते हैं कि जिस दिन विहार होने वाला था, उसके पहले दिन किसी सेठ के घर पुण्यशाली बालक का जन्म हुआ। भगवान बुद्ध को पता चला तो शिष्यों से कहा कि अब हम विहार नहीं करेंगे, क्योंकि नगर में पुण्यशाली जीव का जन्म हो गया है। अब दुष्काल नहीं पड़ेगा। व्यवहार जगत में लोगों का अनुभव है कि 'पुनवान' बहू का 'पगफेरा' बहुत शुभ होता है। 'पुनवान' जीव गर्भ में आते ही चारों ओर से वृद्धि ही वृद्धि होने लगती है। एक की पुण्याई पूरे माहौल को खुशनुमा बना देती है, परिवार में धन-धान्य, यश की वृद्धि होती जाती है। यदि 'पुनवान' जीव की किसी कारणवश मृत्यु हो जाए तो सारी सुख-सुविधाएं, यश प्राप्ति में कमी होने लग जाती है। यही तो पुण्याई का खेल है।

कई लोगों का अनुभव है कि पुण्यशाली जीव कोयले में भी हाथ डालेगा तो वह सोना बन जाएगा। इसके विपरीत पापी जीव सोने में भी हाथ डालेगा तो कोयला बन जाएगा। इसीलिए कहा जाता है कि 'पुनवान के पग-पग पर निधान है।'

संतान भाग्यशाली हो, पराक्रमशाली नहीं

महाभारत में प्रसंग आता है—कुंती पुत्र पांचों पांडव राजकुमार थे, पराक्रमशाली थे, फिर भी वन-वन की ठोकरें खाईं, अपार कष्टों को सहा। तब महारानी कुंती का दिल दहल उठा। कलेजे के टुकड़ों को वनवास में देख कर उसके मुख से सहसा ये शब्द निकले थे कि—'प्रत्येक मां पराक्रमशाली नहीं, अपितु भाग्यशाली अर्थात्—पुण्यशाली संतान को पैदा करे।' क्योंकि उनकी संतान पांडु-पुत्र पराक्रमशाली तो थे, पर भाग्यशाली न होने के कारण उन्हें वन-वन में परिभ्रमण करना पड़ा।

नए वस्त्र धारण करने से पुण्यक्षय

सामान्यतः लोगों को नए-नए फैशन के वस्त्र पहनने का रुझान रहता है। अधिक धन वाले लोग कुछ महीनों तक एक से वस्त्रों का प्रयोग करते हैं, फिर पहनने योग्य वस्त्रों को भी नहीं पहनते हैं और नई-नई फैशन के वस्त्र खरीद लेते हैं। इससे व्यक्ति को दो नुकसान होते हैं—एक तो उसकी पुण्याई घटती है, दूसरे अनावश्यक पैसों का खर्च बढ़ता है।

अहंकार घटाता है पुण्याई

निरर्थक अहंकार हर घर की समस्या है। अहंकार से मुक्त होना कठिनतम साधना है। इस दुनिया में किसी को रूप का, सुंदर पत्नी का, ज्ञान का, तप का, धन का, संतान इत्यादि का अहंकार है, तो उसकी पुण्याई का पलड़ा हलका होता जाता है। अहंकार किसी का भी नहीं टिकता है। अहंकार पतन का मूल कारण है। अतः सुख-सुविधाओं में जीने वाले लोग कभी भी किसी प्रकार का अहंकार न करें, अपितु मन-वचन-काया से सत्प्रवृत्ति करते रहें।

पुण्याई घटाता है नकारात्मक चिंतन

निषेधात्मक चिंतन अकसर स्वयं से अभिभूत होकर दूसरों का अहित सोचता है, ईर्ष्या करता है, द्वेष करता है। वह स्वयं ही इस तरह अपनी 'पुण्याई' का ह्रास करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान महावीर ने एक रूपक के माध्यम से सुंदर समझाया है—

जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोउत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगयओ।।

तीन वणिक व्यापार हेतु गए। एक ने मेहनत कर धन में वृद्धि की, दूसरा मूलधन के साथ लौटा और तीसरा मूलधन भी खो बैठा।

तात्पर्य यह कि हमें यह समझना है कि व्यक्ति मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्ति से अपनी 'पुण्याई' को बढ़ा सकता है। यदि कोई सत्प्रवृत्ति में पुरुषार्थ नहीं करता है, तो वह स्वयं को असत् प्रवृत्ति में भी न लगाए। इस तरह से उसकी जितनी 'पुण्याई' है, उतनी तो वैसी की वैसी बनी रह सके। तीसरी श्रेणी के लोग सत्-कार्यों में प्रवृत्ति न करके असत्—यानी पापकारी कार्यों में लगे रहते हैं, इससे उनकी 'पुण्याई' शीघ्रता से खत्म हो जाती है। फिर पाप का उदय होने से वे पीड़ित व दुखित हो जाते हैं।

अतः अपेक्षा है हम 'पुण्याई' के खेल को अच्छी तरह से समझें और खुद को भी समझाएं कि पुण्य बंधन है, सोने की बेड़ी है। इस बेड़ी को तोड़ने वाला धर्म ही मुक्ति का साधन है। ❖

भंवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

Subash Chand Choraria

MADHU TEXTILE AGENCY

Sohan Palace, S.R.C.B. Road
Fancy Bazar, **Guwahati-1 (Assam)**
M. 94351-04918

Sister Concern :

Sairam Suitings Pvt. Ltd.
Bhilwara (Raj.)

Madhu Textile
Pali-Marwar (Raj.)

S.P. Ware House Corpn.
Amingoan, **Guwahati (Assam)**

जैन भारती, मार्च, 2011 ■ प्रेषण दिनांक 28 फरवरी, 2011
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

ॐ अर्हम्

ॐ भिक्षु आचार्य महाश्रमण

स्व. श्री सोहनलालजी-सूवटीदेवी डूंगरवाल (श्रद्धा की प्रतिमूर्ति)
की पुण्य स्मृति में

कन्हैयालाल डूंगरवाल

सुजानगढ़-गुवाहाटी-दिल्ली

प्रतिष्ठान

ईस्ट इण्डिया ट्रेडिंग कम्पनी

लालसिंह मेन्सन
ए.टी. रोड, **गुवाहाटी 781001**
फोन : 0361-2518998, 2512812

इन्डी ग्लो ऑटोमोबाइल्स प्रा. लि.

3468, नीकोल्सन रोड, मोरी गेट
दिल्ली 110006

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।